DAMAGE BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182356

UNIVERSAL
LIBRARY

...IA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.01 Ch49V Accession No. H2911

Author चतुर्वेदी

Title विनय-पत्रिका १९५७

This book should be returned on or before the date last marked below.

विनय-पत्रिका दर्शन

लेखक
श्री तपेशकुमार चतुर्वेदी
एम. ए. .

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—
राजकिशोर अग्रवाल,
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा ।

[सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन]

द्वितीय संस्करण
अक्टूबर—१९५७
मूल्य २॥)

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फर खाँ, आगरा ।

समर्पण

जिनकी कृपा एवम् स्नेह ने आज मुझे इस योग्य बनाया,

उन्हीं

परम पूजनीया माता

तथा

परम पूज्य ज्येष्ठ भ्राता

श्रद्धेय

श्री सुरेन्द्रनाथ चतुर्वेदी

के

कर - कमलों में

प्रथम संस्करण
की
प्रस्तावना

विनय-पत्रिका के विभिन्न पक्षों पर अनेकानेक दृष्टिकोणों से देखा गया है। वास्तव में बात यह है कि विनय-पत्रिका एक भक्त की आर्त्तपुकार है; कल्याणार्थ याचनाओं का संग्रह है। इसमें आध्यात्मिकता से परिपूर्ण आत्माभिव्यक्ति का शुद्ध उन्मीलन हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी क्षुद्रता का परिचय देते हुए अपने आराध्यदेव की उच्चता एवम् उन्मुक्त उदारता का स्पष्टीकरण किया है। अपनी लघुता के प्रदर्शन से उन्होंने अपने राम की भक्ति को प्राप्त करने का और अपने पूज्य कोशलाधीश की महानता के प्रदीपन से अपने कल्याण की आकांक्षा के साफल्य का पावन प्रयत्न किया है। और इस प्रकार भक्त तुलसी ने अपनी प्रपत्ति एवं अनन्यनिष्ठा का विशद एवं विशिष्ट परिचय दिया है।

विनय-पत्रिका में तुलसी की एकनिष्ट भक्ति से प्रोत्साहित होकर अनेक विद्वानों ने इसकी टीकाएँ लिखी हैं। किसी-किसी टीकाकार ने आलोचक का भी बाना धारण किया है और संक्षिप्त रूप में इस कृत्य की समीक्षा भी की है। इनमें श्री वियोगीहरि की टीका उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त इस भक्तिपूर्ण ग्रन्थ पर, कुछ साहित्य के इतिहासों में, तथा गोस्वामी जी के अन्य ग्रन्थों की आलोचनाओं आदि में, परिचयात्मक रूप कुछ सामग्री मिलती है। आज तक किसी का ध्यान इस की विस्तृत समालोचना करने की ओर नहीं गया। क्लिष्टता को कारण बतलाना तो कदाचित् युक्तिसंगत न होगा; हाँ, प्रचार-न्यूनता कहना अवश्य मान्य हो सकता है।

अस्तु, मेरा यह प्रयास इस भव्य ग्रन्थ की समीक्षा के अभाव को देखकर ही हुआ है। इसमें प्रयत्न तो यही किया गया है कि अधिक से अधिक दृष्टिकोणों का समन्वय हो; परन्तु फिर भी यदि कोई कमी रह जायेगी तो भविष्य

में दूर करने का पूरा प्रयास किया जायेगा। मुझे पूर्ण आशा है कि सहृदय पाठक मेरी भूलों, त्रुटियों तथा अभावों को दूर करने में मुझे सहयोग देते रहेंगे; कारण कि ये मानव-प्रकृति-जन्य हैं, जिन पर विजय पाना व्यष्टि की सामर्थ्य के बाहर है; इसकी शक्ति केवल समष्टि में ही है।

यह कहना कदाचित् कोई नवीनता न होगी कि समीक्षक को केवल अपने ही अनुमानों अथवा तर्कों तक सीमित नहीं रहना चाहिए। उसे अन्य विद्वानों के मतों की भी अवगति अनिवार्य होती है। यदि मत अकाट्य हैं तो उन्हें स्वीकार करना पड़ता है और यदि काट्य हैं तो अपने मत की पुष्टि करनी होती है। सदा ही ऐसा होता हो सो नहीं; जब कभी नितांत स्वतन्त्र रूप से भी समीक्षक को चलना पड़ता है। परन्तु ऐसा होता तभी है जब कि समीक्षार्थ पुस्तक बिल्कुल ही नयी हो और उसके विषय में कुछ भी न कहा गया हो। कहने का तात्पर्य यह कि समीक्षक किसी न किसी का आभार अवश्य वहन करता है, और मैं भी कुछ विद्वानों का इस अर्थ में ऋणी हूँ। जिन पुस्तकों से सहायता ली गई है, उनमें से कुछ ये हैं—'गोस्वामी तुलसीदास' (श्यामसुन्दरदास), 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (डा० रामकुमार वर्मा), 'गोस्वामी तुलसीदास कृत विनय-पत्रिका-सटीक, (वियोगी हरि), 'तुलसीदास' (पं० चन्द्रबली पाण्डे), 'तुलसीदास' (डा० माताप्रसाद गुप्त), 'तुलसीदास और उनका युग' (डा० राजपति दीक्षित) 'तुलसीदास और उनकी कविता' (रामनरेश त्रिपाठी)। मैं इन सब लेखकों का आभारी हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक कुछ कारणों-वश अपने अपूर्ण रूप में ही अपने प्रिय पाठकों के समक्ष जाने को बाध्य है। अपने पूर्ण रूप में, (द्वितीय परिवर्धित संस्करण के रूप में) यह शीघ्र ही उनके सामने आवेगी। यद्यपि कारण असाध्य है, लेखक इसके लिए क्षमा-प्रार्थी है।

अहीर क्षत्रिय डिग्री कालेज
शिकोहाबाद
१ मार्च १९५४

—तपेशकुमार चतुर्वेदी

द्वितीय संस्करण

की

प्रस्तावना

मुझे हर्ष है कि मेरे इस किंचित् प्रयास को, विज्ञ पाठकों तथा विद्यार्थी-वर्ग ने, इतना आदर प्रदान किया। विनयपत्रिका की विस्तृत तथा समुचित समालोचना के अभाव ने ही मुझे इस ओर क़दम बढ़ाने को प्रोत्साहित किया था। प्रथम संस्करण में, समय की कमी तथा अधिक व्यस्तता के कारण, मैं वह चीज़ न दे सका जो देना चाहता था। फिर भी विद्यार्थियों को यह लाभप्रद सिद्ध हो सकी इससे मुझे संतोष है। प्रस्तुत संस्करण में सारे अध्यायों का पूर्ण संशोधन कर दिया गया है। यत्रतत्र कुछ अध्यायों में परिवर्द्धन भी किया गया है। इसके अलावा तीन नये अध्याय बढ़ा दिये हैं, जो क्रमशः 'तुलसी युग और उसका तुलसी-साहित्य पर प्रभाव', 'विनय-पत्रिका में गीतितत्व' तथा 'विनयपत्रिका की काव्यकला' हैं। 'पदों का वर्गीकरण' शीर्षक अध्याय में सातवाँ वर्ग 'रामनाम-माहात्म्य' एक नयी चीज़ है। इस वर्ग की ओर किसी समालोचक ने अभी तक ध्यान नहीं दिया था। ग्रन्थ के आद्योपान्त परिशीलन के उपरान्त मुझे यह वर्ग अनिवार्य जान पड़ा। अतः इसका समावेश कर दिया गया है।

इतने अधिक संशोधन व परिवर्द्धन के दो कारण हैं—पहला, प्रथम संस्करण की अपूर्णता व मुद्रणसम्बन्धी अशुद्धियाँ; और दूसरा, पुस्तक की साहित्यिक चोरी। दूसरे कारण ने मुझे बहुत ही क्षुब्ध कर दिया। कितनी लज्जा की बात है किसी की पुस्तक से उसके परिश्रम के फल को कृतघ्नता के साथ लेकर, चुरा कर, अपना कह देना! मेरी नज़र में दो-एक पुस्तकें इस प्रकार की आयी हैं। एक लेखक महोदय ने तो, मेरी पुस्तक से अध्याय के

अध्याय, शब्दशः नक़ल कर के, अपनी पुस्तक (लखनऊ से प्रकाशित 'विनय-पत्रिका अनुशीलन') की शोभा बढ़ायी है। वे, मेरी पुस्तक में गिनाये गये अध्यायों से, न तो एक-क़दम आगे बढ़ सके हैं और न एक क़दम पीछे हटे हैं। बड़ी शर्म की बात है यह। मार्च सन् १९५४ से (प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम संस्करण से) पूर्व ये साहित्यिक चोर न जाने किस साहित्य-भवन में सेंध लगा रहे होंगे। मैं केवल खेद ही प्रकट कर सकता हूँ ऐसे विषयों पर, इसके अलावा और हो भी क्या सकता है ?

राधास्वामी ऐजूकेशनल इंस्टीट्यूट
दयालबाग़, आगरा।
१५ सितम्बर १९५७

—तपेशकुमार चतुर्वेदी

प्रकाशक की ओर से

'विनयपत्रिका दर्शन' अपने ढंग का, एक अनूठा आलोचनात्मक ग्रन्थ है। तुलसीकृत 'विनयपत्रिका' की इतनी विस्तृत एवं गहन समीक्षा आज तक नहीं हुयी थी। चतुर्वेदी जी के इस प्रयास को आशातीत सफलता मिली है। यही कारण है कि इसका प्रथम संस्करण सन् १९५५ में ही समाप्त हो गया था। काफ़ी माँग होने पर भी द्वितीय संस्करण और अधिक शीघ्र प्रकाश में न आ सका। इस बात का मुझे खेद है। मुद्रणालय की अपनी एक विशेष विवशता होती है। आशा है पाठकगण क्षमा करेंगे।

—प्रकाशक

क्या ? कहाँ ?

विषय	क्रम
१. तुलसी-युग और उसका तुलसी-साहित्य पर प्रभाव	**१-१३**
राजनैतिक	१-३
सामाजिक	३-४
धार्मिक	४-७
साहित्यिक	७-८
तुलसी-साहित्य पर प्रभाव	८-१३
२. विनयपत्रिका में तुलसी	**१४-३१**
जन्म	१५-१६
नाम	१६
बाल्यावस्था	१६-२०
यौवनावस्था	२०
वृद्धावस्था	२०-२१
जाति	२१-२४
विवाह	२४
गुरु	२५-२६
भक्ति का उदय	२६-२७
आलम्बन में परिवर्तन	२७
पर्यटन	२७-२८
अन्तिम काल	२८-२९
मृत्यु	२९-३०
सारांश	३०-३१

विषय	क्रम
३. विनयपत्रिका का प्रयोजन	३२-३९
व्यष्टि हृदय का चित्र'	३२
कवि की खिन्नता और उसका कारण	३२-३४
किंवदन्ती	३४-३५
कलि क्या वस्तु है ?	३५
'विनयावलि' लिखने का कारण	३५-३६
परहित का श्रेयदर्शन	३७-३८
लोकमंगल की भावना	३८-३९
सारांश	३९
४. विनयपत्रिका में क्रम	४०-४५
एक पूर्ण रचना	४०-४१
देवतादि की स्तुति	४१-४३
(क) गणेश	
(ख) पार्वती	
(ग) गंगा	
(घ) यमुना	
(ङ) काशी	
(च) चित्रकूट	
(छ) हनूमान	
(ज) लक्ष्मण	
(झ) भरत	
(ञ) शत्रुघ्न	
(ट) सीता	
(ठ) राम	
(ड) श्रीकृष्ण	
(ण) विंदुमाधव	

विषय	क्रम
तुलसी की मूल भावनाओं का प्रकाशन	४३-४४
भगवान राम का दरबार	४४
राम द्वारा स्वीकृति	४५
सारांश	४५
५. तुलसी के अन्य ग्रंथ और विनयपत्रिका	४६-५४
दोहावली	४६
बरवै रामायण	४६
गीतावली	४७
मानस	४७
कवितावली	४७-४६
तीन वर्गों में साहश्य-प्रदर्शन	४६-४५
(क) आत्मपरिचय	४६-५०
१. नाम-विषयक	४६
२. बाल्यावस्था-विषयक	४६–५०
च. दीन-हीन दशा	
छ. जननी-जनक-विछोह	५०
३. जाति विषयक	५०
४. गुरु-विषयक	५०
५. विवाह-विषयक	५०
६. पर्यटन-विषयक	५०
(ख) भक्ति सम्बन्धी	५०–५१
१. आत्म लघुता	५०
२. आलम्बन पर निर्भरता	५१
३. आलम्बन का प्रभाव	५१
४. आलम्बन में विश्वास	५१
(ग) तत्कालीन परिस्थितियाँ	५२-५३
१. सामाजिक	५२

विषय	क्रम
२. राजनीतिक	५२–५३
(घ) विविध विषय	५३–५४
१. रामभक्ति में जल-मीन की अनन्यता	५३
२. रामनाम का महत्व	५३–५५
सारांश	५४
६. विनयपत्रिका की रचना-तिथि	५५-५९
अन्तर्साक्ष्य का आधार	५६ ५७
कुछ आलोचकों के विचार	५७–५९
१. रामनरेश त्रिपाठी	
२. डा० श्यामसुन्दर दास	
३. डा० माताप्रसाद गुप्त	
४. डा० रामकुमार वर्मा	
५. सारांश	
७. पदों का वर्गीकरण	६०-८८
१. स्तुति	६१–७०
२. स्थान-परिचय	७०–७२
३. आत्मोपदेश	७२–७५
४. संसार की असारता	७६–७८
५. आत्म-ग्लानि	७८–८१
६. आत्माभिव्यक्ति	८१–८४
७. राम-नाम-माहात्म्य	८४ ८८
८. सिद्धान्त तथा दर्शन	८९-११२
'मानस' में दार्शनिक तत्व	९०–९३
(क) राम की जीव-रूप में व्याप्ति	
(ख) रामशक्ति का प्रभाव	
(ग) रामावतार का कारण व प्रयोजन	
(घ) माया का रूप	

विषय	क्रम
(ङ) जगत	
(च) जीव	
'विनयपत्रिका' में दार्शनिक तत्व	९४–११२
सिद्धान्त	९४–९८
दर्शन	९८–१०३
(क) माया	
(ख) राम	
(ग) जगत	
(घ) जीव	
साधन मार्ग	१०३–१०७
सारांश	११२
९. विनयपत्रिका में भक्ति	**११३-१४१**
भक्ति के भेद	११३–११४
(क) सात्विकी	
(ख) राजसी	
(ग) तामसी	
मूर्त्तिपूजा सम्बन्धी विचार	११५–११७
प्रेमरूपा भक्ति	११८- १२२
गौण प्रेम	
मुख्य प्रेम	
अनन्य प्रेम	
भक्ति की परिभाषा	
वैधी अथवा नवधा भक्ति	१२२–१४१
नौ प्रकार	
दैन्य भाव	
अनन्य शरण	
सारांश	

विषय	क्रम
१०. विनयपत्रिका में गीति-तत्व	**१४२-१५७**
गीतोद्भावना के अपेक्षित तत्व	१४२-१३६
गीतिकाव्य की परम्परा में विनयपत्रिका का स्थान	१४६-१४६
विनयपत्रिका में गीति-तत्व	१४६-१५७
११. विनयपत्रिका की काव्य-कला	**१५८-१८५**
परिचय	१५८ १६०
भाषा	१६०-१६५
शैली	१६५-१६६
अलङ्कार	१६६-१७६
वाक्चातुर्य तथा उक्ति वैचित्र्य	१७६-१८२
रस	१८२-१८५

तुलसी-युग और उसका तुलसी-साहित्य पर प्रभाव

तुलसी-युग को, साहित्यिक तराजू पर तौल कर और ऐतिहासिक विश्लेषण कर के, तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—१. राजनैतिक, २. सामाजिक, ३. धार्मिक। इन तीन भागों के अतिरिक्त एक भाग—साहित्यक—और हो सकता है। परन्तु इस भाग के अन्तर्गत हमें देखना केवल इतना ही है कि वे क्या-क्या स्रोत हैं जहाँ से तुलसी ने अपने साहित्य की सामग्री एकत्रित की है, अथवा जिन्होंने तुलसी के साहित्य को अतिशय प्रभावित किया है। वैसे तो तुलसी के पूर्ण साहित्य, सर्व प्रणयन पर ही उनके युग का प्रभाव परिलक्षित होता है, परन्तु यहाँ हमें केवल इतना ही देखना है कि 'विनय पत्रिका' पर उस युग का प्रभाव क्या और किन दिशाओं में पड़ा।

१. राजनैतिक

तुलसी का युग मुग़ल-सत्ता का युग था। अकबर ने अपने पूर्वजों से प्राप्त साम्राज्य का विस्तार करके उसे पर्याप्त रूप से दृढ़ बना लिया था। अकबर की बढ़ती हुयी शक्ति ने राजपूतों तथा अन्य हिन्दू राजाओं के प्रभाव का अपहरण पूर्णरूपेण कर लिया था और सारे साम्राज्य को अपनी इच्छानु-

कूल परिचालित करना प्रारम्भ कर दिया था। जिस राजा ने सर उठाया उसका दमन ही नहीं वरन् उसे पूर्णतः कुचल देना ही अकबर का ध्येय तथा लक्ष्य बन गया था। इस ढंग से उसने बीस वर्ष में ऐसा राज्य संगठित किया कि जिसका नाम इतिहास में अमर हो गया।

अकबर की इस बढ़ती हुयी शक्ति का परिणाम यह हुआ कि उसकी प्रत्येक नीति—धार्मिक अथवा सामाजिक—का अनुसरण करने वाले हिन्दू राजाओं की संख्या दिनों दिन बढ़ने लगी। उनकी शक्ति का ह्रास होने लगा। वे मुग़ल-सत्ता का आधिपत्य स्वीकार करने में अपनी मान-मर्यादा की वृद्धि समझने लगे। फलतः अकबर की रीति-नीति का अंशतः अथवा पूर्णतः अनुकरण भी होने लगा। इतस्ततः बिखरे हुए राज्यों को संगठित करने और कुछ शक्तिशाली राजाओं का मुँह बन्द करने के लिए अकबर ने एक नयी नीति अपनायी। यह थी अन्तर्जातीय व अन्तर्धार्मिक विवाह-नीति। इस विवाह-नीति के अनुसार अनेक राजपूत-बालाएँ अकबर के अन्तःपुर में आने लगीं। सम्राट से सम्बन्ध गहरा होने लगा परन्तु साथ ही साथ हिन्दुओं की असहायता और विवशता भी दृढ़ होने लगी। अतएव इस पंकिल दशा में पड़े हुए हिन्दू राजे-महाराजे विलासिता को जीवन का चरम उद्देश्य समझने लगे। अपनी बेटियों को सम्राट् की भेंट चढ़ाकर वे अपने को पूर्णतः सुरक्षित समझने लगे।

सम्राट् के राज-दरबार में हिन्दू-मुंशियों की संख्या बढ़ने लगी। लगान-विभाग अकबर से पूर्व भी हिन्दुओं के हाथों में ही था; परन्तु अब उसमें राजा टोडरमल के कारण अभिवृद्धि हुयी। सारा लिखा-पढ़ी का काम फारसी में होने लगा। फलस्वरूप फारसी ही, जिह्वा तथा लेखनी, दोनों की व्यंजना हेतु प्रधान साधन बन गयी।

इसी के साथ-साथ अकबर ने एक ऐसा नियम जारी किया जिसके अनुसार किसी सामन्त के मरने के उपरान्त उसकी सारी जागीर-जायदाद आदि राजकोष में चली जाती थी। उसके कुटुम्बियों का उस पर कोई अधिकार नहीं माना जाता था। फलतः उसके मरते ही पूरा परिवार आश्रयहीन हो जाता था। इस कारण भुखमरी बढ़ जाना स्वाभाविक ही था।

इन अनोखे नियमों के साथ ही साथ यह भी द्रष्टव्य है कि मुग़ल-शासन भी अनोखा और भारत के लिए अपरिचित था। राज कर्मचारी को फ़ौज में भर्त्ती होकर रहना पड़ता था। राज्य दूर-दूर तक फैला हुआ था। सारे स्थानों की बागडोर एक मनुष्य के हाथ में ही रहती थी। जनता को किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त नहीं था। यद्यपि राज्य की ओर से बाहरी आक्रमणों को रोकने का पूरा प्रबन्ध था तथापि कृषक वर्ग अपनी रक्षा अपने आप करता था। यही दशा, कुछ और गिरे रूप में, जहाँगीर के समय में भी चलती रही।

२. सामाजिक

राजनैतिक दशा का समाज पर अच्छा-बुरा प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है। सम्राट्—अकबर तथा जहाँगीर—दोनों ही विलासी थे। हिन्दू राजे, विलासिता में, पूर्णतः लिप्त हो चुके थे। भाटों से शृङ्गार पूर्ण कविताओं को सुनने तथा नाच-गाने में उनकी रुचि अधिक जम गयी थी। अकबर का मीना बाज़ार उसकी विलास-प्रियता का ज्वलन्त प्रमाण है। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि जनता की भलाई की ओर से सम्राट् का ध्यान हट गया। यदि कोई ध्यान जनता की ओर रहा तो वह यह कि उससे विभिन्न करों द्वारा किसी न किसी प्रकार रुपया खींचा जाय, जिससे विलासिता में किसी प्रकार की कमी न आ जाय।

अतएव जनता का शोषण होने लगा। जनता अधिकांश रूप में कृषक थी। सरदार लोग कृषकों को सताने लगे। लगान वसूल करने में कल्पनातीत अत्याचारों का प्रयोग किया जाने लगा। अतिरिक्त करों को देते-देते कृषक की कमर टूट जाती थी। न्याय-अन्याय, जनता से कर वसूल किए जाते थे। जितना लगान नहीं उतना भिटौरी के रूप में देना पड़ जाता था। इतना होता तो ग़नीमत थी। बेचारों के ऊपर दुर्भिक्ष भी अपना प्रकोप दिखलाने में नहीं हिचकता था। दुर्भिक्ष से छुटकारा नहीं मिलता था कि महामारी आ दबाती थी। राज्य की ओर से कोई प्रबन्ध न होने के कारण, अन्न तथा

औषधि के अभाव में, असामयिक असंख्य मौतें हो जाती थीं।

यह तो हुआ समाज के चित्र का कृष्ण-पक्ष; परन्तु साथ ही साथ उसका एक कोना सुन्दर-स्वच्छ भी दिखायी देता है। यह तो हम कह ही चुके हैं कि अकबर ने हिन्दू-कन्याओं से विवाह करना आरम्भ कर दिया था, हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों को सुनने-समझने लगा था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके हृदय में मुल्ला-मौलवियों वाली इस्लामी कट्टरता के स्थान पर समभाव ने जड़ जमानी शुरू कर दी। इसका फल अच्छा हुआ। हिन्दू-मुसलमानों में एकत्व की भावना जाग्रत होने लगी। अनेकों त्यौहारों को भेदभाव से विप्रमुक्त होकर मनाया जाने लगा। एक दूसरे के प्रति उपेक्षित भावों का अन्त हो गया। कवियों, साधकों, विचारकों, प्रचारकों आदि पर एक दूसरे की सभ्यता का प्रभाव पड़ा। परन्तु अन्त में कहना यही पड़ता है कि यवनअत्याचारों के समक्ष यह सब नगण्य सा प्रतीत होता था। बल्कि हम यह कह सकते हैं कि यह एकीकरण अथवा समभावरूपिता तो बाद की वस्तु थी, पहले तो यातनाओं व क्रूरताओं का ही सामना करना पड़ा था।

३. धार्मिक

धार्मिक दशा के दो पक्ष हैं। एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य से तात्पर्य उस दशा से है जो हमारे सामने, जनसाधारण के सामने, गोचर रूप में प्रस्तुत थी और आभ्यन्तर का सम्बन्ध है विचारों, विभिन्न मतों एवम् सिद्धान्तों के प्रचलन से।

बाह्य पक्ष के दर्शन हमें मन्दिरों तथा तीर्थस्थानों में जितने स्पष्ट रूप से होते हैं, उतने अन्यत्र नहीं। स्मिथ ने अपनी एक इतिहास की पुस्तक* में जगन्नाथपुरी में एकत्रित भीड़ का दृश्य खींचा है। इस चित्र से यह ज्ञात होता है कि उस समय जनता में अन्धविश्वास का बोलबाला था। धर्म की ओट में पुजारी कुछ भी करे, पूज्य माना जाता था। ब्राह्मण अपनी कुशल चालों से जनता के हृदय में अपने प्रति श्रद्धा-भाव का उद्‌बोधन करके उसे

* बरनियर्स ट्रैवल्स इन दि मुग़ल इण्डिया।

दृढ़तापूर्वक जमाए रहते थे। वे स्त्रैणत्व को धर्म का खोल पहना कर अनेकों भोली नारियों का सतीत्व अपहृत करते रहते थे। जटाधारी सिद्धों की सेवा में रहने वाली पुजारिनियों के रूप में वेश्याओं का नंगनाच देवालयों में ही नहीं जनसाधारण के मध्य में भी हुआ करता था। परन्तु अन्धविश्वास के वशीभूत किसी के मुख से बोल तक न फूटता था। अधिक वर्णन की अपेक्षा नहीं, इतना चित्रण ही इस पंकिल दशा को स्पष्ट करने को पर्याप्त होगा।

वर्णाश्रम धर्म भी पतनोन्मुख था। भारत में यवन-आगमन के पूर्व ही वैदिक धर्म पर नास्तिक जैन तथा बौद्ध द्वारा अनेकों प्रहार हो चुके थे। इस प्रहार के आघात को अधिक घातक सिद्ध न होने में कुछ विद्वानों के भाष्यों का अमूल्य योग रहा। इन्होंने वेदों के भाष्य प्रस्तुत किए और उन्हें अधिकाधिक ग्राह्य बनाने का भरसक प्रयत्न किया।

समाज सम्बन्धी पुरातन नियमों का लगभग लोप हो चुका था। उन्हें पुनः प्राणवान करने के निमित्त कुछ सुधारकों ने स्मृतियों के भी भाष्य तैयार किए। इस कुसमय में इस अस्तव्यस्त अवस्था का जो कुछ सुधार हुआ, वह इन्हीं भाष्यों आदि के सहारे हुआ। परन्तु इनके द्वारा अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। फलतः दार्शनिक तत्वों की सहायता लेना भी अनिवार्य समझा गया। शंकराचार्य तथा उनके गुरू के मतानुसार दर्शन-सम्प्रदायों की पुनर्स्थापना हुयी और दार्शनिक तत्वों को ग्राह्य और सरल बनाने के हेतु विभिन्न भाष्य प्रस्तुत किए गए।

इन सब प्रयत्नों का सुलाभ यह हुआ कि हिन्दू धर्म मिटने से बच गया। परन्तु मुसलमानी संस्कृति और इस्लाम धर्म का प्रभाव भी पड़े बिना न रह सका। कुछ ऐसे सुधारकों की अवतारणा हुयी जिन्होंने हिन्दू-धर्म तथा इस्लाम-धर्म के समन्वयात्मक धर्म की स्थापना करने का भरसक प्रयास किया। दोनों धर्मों के मतभेदों की इति करके उनके गृहीत तथ्यों का सामंजस्य करने का सफल, महत्वपूर्ण कार्य आरम्भ हो गया। इन सुधारकों में अग्रगणी थे कबीर। इन्होंने अपने अनुयायियों की सहायता से पूर्वकाल से प्रचलित अनेकानेक वर्णाश्रमों को समूल उखाड़ फेंकने की कोशिश की। मंदिर, मसजिद, गिरजा आदि सबके समन्वय से एक नये पन्थ की प्रतिष्ठा की जिसके अनुसार

इस काल का साहित्य-सर्जन अति संकुचित व हृदयहीन रूप में हो रहा था। कवियों में प्रेरणा भरने वाले वर्ण्य विषय थे राजकुल सम्बन्धित विवाहोत्सव, ज म-दिवस, राज्य-तिलक आदि। इसके अतिरिक्त कवि अधिकतः शाह की चाटुकारिता में लीन रहा करते थे। कुर्सियों, मेजों आदि पर खुदवाने के लिए शेरोशायरी की आवश्यकता रहती थी जिसके गुणावगुणों की परख करने के पश्चात् शायर को पुरस्कार प्रदान किया जाता था। कवि-प्रेरणा के ये स्रोत न तो मंगलकारी सिद्ध हुए और न ही इनका लक्ष्य मानव-हृदय की उत्कृष्ट, रागात्मक वृत्तियों की अभिव्यंजना अथवा जीवन के चरम उद्देश्य की ओर संकेत करना रहा। कवि केवल अपनी जीविका-अर्जन राजाओं की चाटुकारिता अथवा उनकी असात्विक अभिरुचियों की परितृप्ति ही अपना परम लक्ष्य समझते रहे।

इस प्रकार के साहित्य-सर्जन के साथ ही साथ विभिन्न पन्थों के नियामकों तथा प्रेममार्गी कवियों की साहित्य-धारा भी प्रवाहित होती रही। समाज को सर्वाधिक प्रोत्साहित करने तथा उनमें नवीन जागरण लाने वाला स्रोत कृष्ण-प्रेमाख्यान सिद्ध हुआ। अतः यह कहा जा सकता है कि एक ओर निर्गुनपन्थी थोथा, रसविहीन, शुष्क उपदेश देकर समाज का पथ-प्रदर्शन करना चाहते थे और दूसरी ओर प्रेमरसमग्न सगुणमार्गी भक्तकवि कृष्ण-लीलाओं के वर्णन द्वारा जनता में नवजागरण उदय करके उसे भक्ति का संदेश देना चाहते थे।

तुलसी-साहित्य पर प्रभाव

उपरोक्त परिस्थितियों में तुलसी ने अपने काव्य का प्रणयन किया। अतः लोक का, जनहित का ध्यान रखकर उन्होने जैसे काव्य की रचना की वैसा कोई समसामयिक कवि न कर सका। उनके काव्य का स्रोत पूर्ण समाज था; निर्गुनिए कवियों अथवा राज-दरबारी कवियों की भांति समाज का कोई पक्षविशेष नहीं। गोस्वामी जी के विभिन्न काव्य-ग्रन्थों में उनके समाज के प्रत्येक कोने का, प्रत्येक पक्ष का चित्रण उपलब्ध है।

यदि गोस्वामी जी के, मानस, कवितावली तथा 'विनयपत्रिका' के

पन्ने उलटें-पलटें जायें तो ज्ञात होगा कि वे अपने समाज में प्रचलित भ्रष्टाचार, अनाचार व दासता से पूर्णतः परिचित थे। दासता की मनोवृत्ति ने मानवमात्र में शिक्षा के प्रति क्या भाव उत्पन्न कर दिया था उसका चित्रण देखिए कितना सजीव हुआ है—

मातुपिता बालकन्ह बोलावहिं।
उदर भरइ सोइ पाठ पढ़ावहिं ॥१

मुगलकालीन भाषा—फारसी के अध्ययन की ओर उक्त उद्धरण कितना दृढ़ संकेत करता है!

पीछे हम तुलसीकालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों का निर्देश कर आए हैं। अब उन्हीं का चित्रण तुलसी के ग्रन्थों में कितना हुआ है यह देखना हमारा लक्ष्य होगा। 'वेद धर्म दूरि गए, भूमि चोर भूप भए'२ कह कर गोस्वामी जी ने यवनों की 'चोर-प्रवृत्ति' की ओर संकेत किया है। शासक किस प्रकार कृषकों से कर वसूल करते थे, समाज के अन्य वर्गों के व्यापारियों आदि पर किन अनाचारों का प्रकोप था और वे कितने असहाय थे इसका कितना सजीव चित्रण निम्न पंक्तियों में हुआ है—

खेती व किसान को, भिखारी न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाइ, का करी'।३

तुलसी के समय में पड़ने वाले दुर्भिक्षों तथा महामारी के प्रकोप से संतप्त दुःखी, कलपते हुए असहाय प्राणियों की दशा की कैसी स्वस्थ व्यंजना इन पंक्तियों में हुई है—

(अ) कलि बारहिंबार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।४
(ब) संकर-सहर-सर, नर-नारि बारि-चर,
बिकल सकल महामारी माजा भई है।

१. मानस उ० छ० १७७ २. कविता० उ० छ० १७७ ३. वही, उ० छ० ९७ ४. मानस० उ० १०० (१०)

उछरत उतरात हहरात मरि जात,
भमरि भगात, जल-थल मीचुमई है ॥१

देवालयों तथा तीर्थ-स्थानों के भ्रष्टाचारों व प्रपंचों का उल्लेख करते हुए गोस्वामी जी ने एक दोहा बड़ी सफलतापूर्वक लिखा है—

सुर-सदननि तीरथ पुरिन, निपट कुचालि कुसाज ।
मनहु मवासे मारि कलि, राजत सहित समाज ॥२

उक्त दोहे में वर्णित भाव से यह स्पष्ट है कि कलि का सर्वाधिक शक्ति-प्रयोग इन्हीं पुनीत स्थानों में था ।

वर्णाश्रम धर्म के ह्रास का बड़ा ही सफल द्योतन गोस्वामी जी ने अपने 'मानस' तथा 'कवितावली' में किया है । साधारणरूप से वेद-पुराणों में मनुष्यों की आस्था का अवसान हो गया था । यहीं नहीं वे श्रुतियों आदि का विरोध भी करने लगे थे । दो-एक उदाहरण लीजिए—

(अ) बरन-धरम नहिं आस्रमचारी ।
स्रुति विरोध-रत सब नर-नारी ॥३

(ब) बरन-धरम गयौ आस्रमनिवास तज्यो ।
त्रासन चकित सो परावनो परो सो है ॥४

(स) बेद-पुरान बिहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है ।
वर्ण-विभाग न आस्रम-धर्म दुनी दुख-दोष-दरिद्र दली है ॥५

(द) स्वारथ परमारथ कहा । कलि कुटिल बिगोयो बीच ।
धरम-बरन-आस्रमनि के पैयत पोथि ही पुरान ॥६

इस प्रकार का वर्णाश्रम-ह्रास देख कर ही गोस्वामी जी ने वर्णव्यवस्था की ओर ध्यान दिया है, और उसका समर्थन भी किया है । वर्णाश्रम व्यवस्था

---

१. कविता० उ० छ० १७६ २. दोहावली ५५८
३. मानस उ० ६७
४. कविता० उ० ८४
५. वही० उ० ८५
६. विनय० पद १६२

के कट्टर-विरोधी तक उसके मूल सिद्धान्तों को ग्रहण करते हैं; परन्तु वर्णभेद किस प्रकार किया जाय, बस इसी पर वादविवाद व विरोध होता रहा है। वर्णभेद दो प्रकार ही हो सकता है—१. जन्म से और २. कर्म से। किन्तु कठिनाई यह है कि यदि जन्म से वर्णभेद किया जाय तो समान अधिकार और उन्नति के लिए अवसर अथवा कोई क्षेत्र नहीं रह जाता। मनुष्य वर्ग-विशेष में ही फँसा रह जाता है। उन्नतेच्छा का दमन अनिवार्य हो जाता है। यदि कर्म से यह भेद किया जाय तो निरन्तर परिष्कार आवश्यक होता है। अतः इन दोनों के समन्वय से ही कार्यसिद्धि होती है। गोस्वामी जी ने इसी समन्वय को श्रेयस्कर माना है। इसे फलीभूत करने के हेतु वे भक्ति को किसी कोने में न रख कर, ब्राह्मणों के पल्ले से ही न बाँध कर, समभूमि पर स्थित करना चाहते हैं। उनका मत है कि घर-बाहर कहीं भी राम-प्रेम की स्थापना की जा सकती है। किसी विशेष स्थान में अथवा किसी विशेष मनुष्य द्वारा उसकी प्रतिष्ठा नहीं होती। यथा—

घर कीन्हें घर जात है घर छाँड़े घर जाइ।
तुलसी घर-बन बीच ही राम-प्रेम पुर छाइ॥१

इस प्रकार हम गोस्वामीजी में न तो पुराणवाद पाते हैं और न कोई नवीन-वाद; हम यहाँ केवल इन दोनों का समन्वय व संघटन ही पाते हैं। उन्हें निर्गुनियों का ज्ञानमार्ग ग्राह्य नहीं था। कबीर भक्ति में ज्ञान का योग आवश्यक समझते थे। वे जाति-पांति, वर्ण-व्यवस्था के कट्टर विरोधी थे। तुलसी को परम्परागत वर्णव्यवस्था मान्य थी परन्तु वे सर्वथा उसका समर्थन कहीं नहीं करते। 'मानस' में उन्होंने अनेक स्थलों में वर्णाश्रम धर्म का समर्थन किया है।

यहाँ तक 'मानस', 'कवितावली' तथा 'दोहावली' में अभिव्यंजित तुलसीकालीन परिस्थितियों का निदर्शन हुआ। अब यदि 'विनयपत्रिका' के पन्नों को उलटें-पलटें तो देखेंगे कि उसमें भी इन सब परिस्थितियों का स्वस्थ तथा स्पष्ट चित्रण हुआ है। बल्कि हम यहाँ तक कह सकते हैं कि 'विनय-पत्रिका' के केवल एक ही पद में गोस्वामी जी ने समस्त चित्र को अङ्कित कर

१. दोहावली दो० २५६

दिया है। वे अपने युग की पंकिल दशा व घृणित परिस्थितियों का अवलोकन करके घबरा गए हैं। उनका मत है कि यह 'कलि' के कोप का परिणाम है। उनके युग, मुग़ल-युग, की ऐसी अवनत दशाओं ने ही, ऐसे कपट व भ्रष्टाचार ने ही उसे कलियुग का रूप दे दिया था। इसीलिए पूर्ण विनयपत्रिका में कलि के दमनार्थ, लोक के कल्याणार्थ उनकी 'पाहि-पाहि' की पुकार का गम्भीर घोष सुनायी पड़ता है। उन्हें अपने काल की कुचालों को देख कर अतिशय घृणा होती है। यथा—

काल-चाल हेरि होत हिये घनी घिन।१

गोस्वामी जी, अपने समय के पाप, दारिद्रय तथा दुःख को देख कर अपने दीनदयाल 'राम' से त्राण के लिए निवेदन करते हैं। पूरा पद समाज की दीन-हीन दशा तथा नास्तिकता से आप्लावित प्रवृत्तियों के निदर्शनार्थ सुप्रभ दर्पण के रूप में हमारे सामने आता है। यथा—

दीनदयालु, दुरित, दारिद, दुख, दुनी दुसह तिहुं ताप तई है।
देव, दुवार पुकारत आरत, सब की सब सुख हानि भई है॥
राज-समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुप कुचाल नई है।
नीति-प्रतीति-प्रीति परमिति पति हेतुवाद हठि हेर हई है॥
आस्रम-वरन-धरम-बिरहित जग, लोक-वेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पापरत, अपने-अपने रंग रई है॥
साँति, सत्य, सुभरीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट-कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति, खल बिलसत हुलसति खलई है॥
परमारथ-स्वारथ, साधन भये अफल, सफल नहिं सिद्धि सई है।
कामधेनु-धरनी कलि-गोमर, बिवस बिकल जामति न बई है।
कलि करनी बरनिये कहा लौं, करत फिरत बिनु टहल टई है।
तापर दाँत पीसि कर मीजत, को जानै चित कहा ठई है॥२

---

१. विनय० पद २५३
२. विनय० पद १३६ (१, ३, ४, ५, ६, ७,)

'हे दीनदयालु, पाप, दारिद्र्य तथा दुःख—तीनों तापों से संसार जला जा रहा है। सबके सुख का अवसान हो गया है, अतः हे देव, यह दुःखी मनुष्य आपके द्वार पर आपको (सहायतार्थ) पुकार रहा है। पूर्ण समाज करोड़ों कुरीतियों से भरा हुआ है; मनुष्य नित्य नयी-नयी चालों का प्रयोग में ला रहे हैं। नास्तिकता के कारण नैतिक सिद्धान्त, विश्वास धर्मशास्त्र, श्रद्धा व भक्ति का पूर्ण लोप हो गया है। संसार में आश्रमधर्म तथा वर्ण-धर्म समाप्त हो गया है। लोक और वेद की मर्यादा का नाश होता जा रहा है। प्रजा की अधोगति इस सीमा तक पहुँच चुकी है कि वह पतित होकर पाखण्ड में मग्न होगई है। सब अपने-अपने रंग में मस्त हैं। शांति, सत्य और शुभ रीतियों का ह्रास होरहा है; और छल-कपट एवं दुराचार की वृद्धि होरही है। सज्जन कष्ट पाते हैं, सज्जनता चिन्ताग्रस्त हो रही है और दुष्टजन आराम कर रहे हैं, प्रसन्न हैं। परमार्थ, स्वार्थ में परिणत हो गया है। सारे साधन निष्फल हो रहे हैं और सारी सिद्धियाँ भी असफल हो रही हैं। कामधेनु रूप पृथ्वी कलि-कसाई के हाथों में पड़ गई है। उसमें जो कुछ बोया जाता है वह विवश होकर बिना जमे रह जाता है। कलि के इन कुकृत्यों का वर्णन कहाँ तक करूँ; वह व्यर्थ के काम चारों ओर करता फिरता है। इतना उत्पात मचाने पर भी वह हाथ मल-मल कर अपने दाँत-पीस रहा है; पता नहीं अब इसके आगे और क्या करने को उसके मन में पछतावा हो रहा है।'

इस पद को तथा अन्य उद्धरणों को पढ़ने के पश्चात् अनुमान लगाया जा सकता है कि युग ने तुलसी-साहित्य को कितना प्रभावित किया था। इसी कारणवश तुलसी को 'युग-प्रतिनिधि' की उपाधि से अभिहित किया जाता है।

विनयपत्रिका में तुलसी

कविता कवि के अन्तःकरण का प्रतिबिम्ब है; वह कवि की अन्तःवृत्तियों की प्रदर्शनी है। कविता का आविर्भाव कवि की रसमयी अनुभूतियों तथा सूक्ष्म कल्पनाओं के संयोग से होता है। कविता के द्वारा ही कवि का मूल रूप प्रकाश में आता है। कवि रचना करते समय वाह्यपरिस्थियों से प्रभावित रहते हुए भी अपनी वृत्तियों एवं अनुभूतियों का साक्षात्कार न कराने में असमर्थ सा हो जाता है। वैसे तो सभी प्रकार के काव्य में कवि का हृदय उभर आता है, उसके मनोभाव प्रकाशित हो जाते हैं, उसका जीवन बोलने लगता है परन्तु गीतों में यह विशेष रूप से देखने को मिलता है। बल्कि यह कह सकते हैं गीतों की यह विशेषता है कि उसमें गीतिकार का हृदय गाने लगे उसका जीवन बुदबुदाने लगे।

'विनयपत्रिका' गीतों का एक संग्रह है, जिसकी विशेषता है अपने रचयिता को उसकी सामाजिक परिस्थितियों से रंग कर उसके जीवन के पृष्ठों पर तीखा प्रकाशपुंज डालना और उसके प्रत्येक अंक को स्पष्ट, गोचर रूप देना।

अतः यह कहने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं कि तुलसीदास की पूर्ण 'विनय-पत्रिका' उनके जीवन की विशद कहानी है। तुलसी के जीवन का

पर्याप्त अंश उनकी 'विनय-पत्रिका' में निहित है। फलतः हमें यह जानना आवश्यक है कि 'विनय-पत्रिका' अपने रचयिता को कहाँ तक प्रतिबिम्बित कर सकी है।

जन्म—

कहने की आवश्यकता नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास का *जन्म बाँदा जिले के राजापुर ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे था और माता का नाम हुलसी। यह कहना कदाचित् सत्य नहीं कि अभुक्त मूलों में जन्म लेने के कारण तुलसी को इनके माता पिता ने जन्म होते ही त्याग दिया था। यद्यपि इस कथन की पुष्टि तुलसी स्वयं 'विनय-पत्रिका' में इस प्रकार करते हैं—

'जननि-जनक तज्यो जनमि करम बिनु विधिहुँ सृज्यो अबडेरे'।१

तथापि कुछ विद्वानों को इसमें संदेह है। उनका कहना है कि तुलसी के माता-पिता इनकी बाल्यावस्था में ही स्वर्गवासी हो गये थे; इसलिए ये अपने बालपन से ही अनाथ थे। इस बात का निर्णय करना कि इनमें से कौन सा मत सत्य है, तनिक कठिन है। कोई भी माँ अथवा पिता अपने बालक को अभुक्त मूलों में जन्म लेने के कारण त्याग नहीं सकते। माता की ममता और पिता का स्नेह वह बन्धन है जिसे मृत्यु के अतिरिक्त और कोई नहीं तोड़ सकता। विचार करने का विषय है कि यदि बालक अभुक्त मूलों में जन्म लेता है तो उसका प्रभाव बालक को त्याग देने से नष्ट नहीं हो जाता। बालक कहीं भी रहे प्रभाव तो बना ही रहता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे

---

* गोस्वामी जी की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में अनेकानेक मत प्रचलित हैं, परन्तु अन्त में बाबा वेणीमाधवदास द्वारा लिखित तिथि ही शुद्ध मानी गयी है। इस मत का समर्थन हमें 'रामचरित' पर लिखे गए 'मानस मयंक' में भी मिलता है :—

पंद्रह सै चौवन विषै, कालिन्दी के तीर।
स्यावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ शरीर॥

१ विनय पद २२७।

साधन तथा विधियाँ भी हैं जिनसे मूल-शांति की जा सकती हैं। अतएव यह कहना कि अभुक्त मूलों में जन्म लेने के कारण इन्हें माता-पिता ने त्याग दिया था, कुछ प्रतीतिजनक नहीं जान पड़ता। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तो यहाँ तक कह डाला है कि पिता ने इन्हें त्यागा था इनसे न बनने के कारण। परन्तु मुझे इसे अस्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं। कारण स्पष्ट है। न बनने का प्रश्न तो युवावस्था में आता है। पिता और पुत्र में मतभेद होने का प्रश्न बालपन में आ ही नहीं सकता।

जहाँ ये दो मत सामने आते हैं वहाँ तुलसीदासजी की आत्माभिव्यक्ति का भी सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है। विनय-पत्रिका में इन्होंने लिखा है—

'तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यों मातु पिता हूँ।'१

वियोगी हरि के अनुसार इस पंक्ति का अर्थ है—"माता-पिता ने मुझे ऐसा छोड़ दिया, जैसे दुष्ट कीड़ा अर्थात् सर्पिणी अपने ही शरीर से जने हुए (बच्चे) को त्याग देती है।" इस अर्थ को लेते हुए हमें यही कहना पड़ता है कि तुलसी बाल्यावस्था में ही अपने पिता-माता द्वारा त्याग दिये गए थे। 'तज्यो मातु पिता हूँ' का अर्थ इस प्रकार है। 'माता पिता मुझे अभागा जान कर छोड़ बैठे। बचपन में ही मेरे दुर्भाग्य से, मुझे छोड़कर परलोकवासी हो गए।'

इस प्रकार यह निर्णय करना कुछ कठिन हो जाता है कि कौन सा मत ठीक है। ऐसे अवसरों पर मनन, तर्क व निश्चयात्मिका बुद्धि का सहारा लेना नितान्त आवश्यक हो जाता है। निष्पक्ष भाव से विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि माता-पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर अनाथ हो जाने वाला मत ही संगत तथा मान्य है।

इस मत के मानने में कवितावली में उपलब्ध यह कथन 'मातु-पिता जग जाय तज्यो' कुछ बाधा उपस्थित करता है। इसे लेकर यह तर्क उठाया जा सकता है कि यदि माता-पिता ने इन्हें (परलोकवासी हो जाने के कारण छोड़ दिया था) तो क्या जगत ने भी इन्हें परलोकवासी हो जाने के कारण छोड़

१. विनय० पद २७५

दिया था ? कुछ आलोचक हँसकर कह सकते हैं कि क्या इन्हें अनाथ छोड़ने के लिए इनके माता-पिता की तरह सारा जगत ही परलोकवासी होगया था ? और इसी तर्क के सहारे कह सकते हैं कि जिस प्रकार माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया था वैसे ही संसार ने भी छोड़ दिया था। परन्तु इस पूरे तर्क को विनय-पत्रिका की एक पंक्ति "स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरो"१ ही काट देती है। इसमें 'स्वारथ' शब्द इस बात का द्योतक है कि जगत स्वार्थी है और इसीलिए उनके साथियों ने उनका साथ छोड़ दिया। साथियों द्वारा छोड़े जाने का कारण 'जायो कुलमंगन'२ भी हो सकता है। दरिद्रकुल से सम्बन्धित होने के कारण स्वार्थी जगत ने उनका कोई साथ नहीं दिया। साथियों का स्वार्थी होना गोस्वामीजी ने 'विनय-पत्रिका' में अन्य स्थानों पर भी बतलाया है। एक उदाहरण देखिए, "तन-साथी सब स्वारथी, सुर व्यवहार सुजान।"३ इस प्रकार 'जग तज्यो' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

इतना कहने पर भी कुछ आलोचकों को वास्तविकता में संदेह रह सकता है। 'तिजरा को सो टोटकऔचट उलटि न हेरो' को लेकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि इन्हें इनके पिता और जगत ने अभुक्त मूलों में उत्पन्न होने के कारण ही त्याग दिया था ; क्योंकि यह 'मनहूसियत' की निशानी है। जिस प्रकार तिजारी के टोटके को उलट कर भी देखने से ज्वर आ जाता है उसी प्रकार इनकी सूरत देखने भर से पाप लग जाता। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि यह प्रयत्न बिल्कुल वैसा ही है जैसा कि केशव-दास को 'उलूक की संपति ज्यों न चितवत'४ को लेकर आदर्शहीन और हृदयहीन सिद्ध करने का। ये दोनों कथन केवल उपमा के रूप में लाए गए हैं ; जो केवल धर्म को ओर संकेत करते हैं। उपमान के गुण अथवा रूप से इनका कोई प्रयोजन नहीं। अतः यह कहना कि 'तिजरा को सो टोटक' का अर्थ तुलसीदास के 'अभुक्त मूलों में जन्म' से है, अथवा 'उलूक' का अर्थ रामचन्द्रजी के उल्लू के समान होने से है, स्वयं की अल्पज्ञता का ही द्योतक

१. वही, पद २७२, २. कवितावली, उत्तर० ७३
३. विनय० पद १६१, ४. रामचन्द्रिका

है। मुझे तो यही मान्य जान पड़ता है कि तुलसीदास को माता-पिता ने घर से निकाल नहीं दिया था अपितु उनके स्वर्गवासी हो जाने के कारण वे अनाथ हो गए थे।

इसके अतिरिक्त 'विनय-पत्रिका' की एक पंक्ति—'मोहुँ सों कोउ-कोउ कहत रामहि को, सो प्रसंग केहि केरे'१ भी इसी की ओर संकेत करती है कि लोग इनके मां-बाप को जानते तक न थे, और इसीलिए वे इन्हें 'राम का' कहा करते थे। माता-पिता को न जानने का कारण यही हो सकता है कि तुलसी की अल्पावस्था में ही वे स्वर्गवासी हो चुके थे।

अब तनिक अन्य विद्वानों के मतों की ओर भी ध्यान दीजिए। डा० ग्रियर्सन के अनुसार अभुक्त मूल में जन्म लेने के कारण तुलसी माता पिता द्वारा छोड़ दिए गए थे। डा० श्यामसुन्दरदास इस मत को नहीं मानते। उन्होंने लिखा है "मूल नक्षत्र में जन्मे लड़कों की मूल-शान्ति और गोमुख-प्रसव शान्ति भी शास्त्र के लेखानुसार होती है, प्रायः लड़के छोड़ नहीं दिए जाते!" माता-पिता द्वारा छोड़ देने के मत को बाबा वेणीमाधवदास के कथन से कुछ पुष्टि मिलती है। किन्तु यह कहाँ तक सत्य है, नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त पंडित चन्द्रबली पांडे भी कुछ डगमगाए से ही जान पड़ते हैं। वे 'विनय-पत्रिका' की पंक्ति 'तनु-जन्यों कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातपिता हूँ' का सहारा लेकर कहते हैं—"ज्यों से कुछ आशा बँधी तो देखा कि 'कुटिल कीट ज्यों' और भी विकट हो गया।" पहले लोगों ने अभुक्त मूल की प्रेरणा से 'कुटिल कीट' का अर्थ किया था सर्पिणी, परन्तु अब कुछ लोग सोरों-सामग्री के आधार पर इसका अर्थ लगाते हैं 'केंकड़ा'। उनका कहना है कि केंकड़ा को सोरों के आस-पास कुटिला कहते हैं। कुटिला का निधन जनमने से हो जाता है। बिच्छू के बारे में तो यह प्रसिद्ध ही है—"केरा बिच्छी बाँस, अपने जनमलें नास।"

अतः इन अर्थों तथा मतों को लेते हुए भी हमें यही मानना पड़ता है कि तुलसी को उनके माता-पिता ने घर से नहीं निकाल दिया था अपितु

१. विनय० पद २२७.

उनकी माता का शरीरान्त उनके जन्म से ही हो गया था और पिता का कुछ दिनों पश्चात्। इस प्रकार तुलसीदास बाल्यावस्था से ही अनाथ के रूप में रह गए थे।

नाम—

'विनय-पत्रिका' गोस्वामीजी के नाम के विषय में भी कुछ कहती है। एक पद में वे स्वयं लिखते हैं—

'राम को गुलाम, नाम रामबोला राख्यौ राम'[१]।

इस पंक्ति से यह स्पष्ट है कि इनका एक नाम रामबोला भी था। इनका यह नाम राम के भक्त होने के नाते ही था। तुलसी-चरित में एक स्थान पर लिखा भी है—

'तुलसी तुलाराम मम नामा। तुला अन्त धरि तौलि स्वधामा॥
तुलसि राम कुल-गुरू हमारे। जन्मपत्र मम देखि विचारे॥
प्रेमहिं तुलसि नाम मम राखी। तुलारोहू तिय कहि अभिलाषी॥

इससे अर्थ यह निकलता है कि वास्तव में पहले इनका नाम तुलाराम ही था; परन्तु बाद में कुल-गुरु ने जन्मपत्र आदि देखकर तुलाराम से तुलसी राम कर दिया और अन्त में इन्होंने अपने दैन्यभाव तथा दासवृत्ति के कारण स्वयं तुलसीदास कर दिया।

बाल्यावस्था—

अपनी बाल्यावस्था तथा यौवनावस्था पर कुछ प्रकाश डालते हुए गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका में जो दो-एक पंक्तियाँ लिखी हैं वे स्पष्ट रूप से अपने रचयिता की यौवनसुलभ रसिकता का परिचय देती हैं। यथा—

१—खेलत-खात लरिकपन गोचलि, जौबन जुबतिन लियो जीत।[२]
२—लरिकाई बीती अचेत चित चंचलता चौगुनी चाय।
जोबन-जुर जुबती कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरि मदन बाय॥[३]

१. विनय पद ७६
२. विनय० पद २३४ ३. वही, पद ८३

उक्त दोनों उद्धरणों से यही ज्ञात होता है कि तुलसी का बचपन खेलते-खाते रोग व बाधाओं में ही व्यतीत हो गया। वे न तो इस संसार को ही समझ सके और न राम की महिमा का मूल्य ही आँक सके।

यौवनावस्था—

यौवनावस्था पर तो गोस्वामी जी की उक्त पंक्तियाँ इतना तीखा प्रकाश डालती हैं कि वह अपने को छुपाने में असमर्थ सा हो जाता है। ये दोनों उद्धरण इसी बात की घोषणा करते हैं कि गोस्वामी जी अपनी यौवनावस्था में युवतियों के पाश में ही बंधे रह गए, भूल कर भी भक्ति की ओर ध्यान नहीं दिया। उक्त प्रथम पंक्ति का विश्लेषण करते हुए श्री वियोगी हरि लिखते हैं—"जिस यौवन में प्रतिभा और बुद्धि का विकाश होता है, इन्द्रियाँ चैतन्य रहती हैं, चित्त में उमंग और उत्साह बढ़ता है, उसे स्त्रियों ने सौन्दर्य-पाश में बाँध कर गुलाम बना लिया, मदान्ध कर दिया।'

इसी सम्बन्ध में विनयपत्रिका में एक पंक्ति और उपलब्ध है जो तुलसी की यौवनावस्था का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करती है। तुलसी स्वयं को धिक्कारते हुए कहते हैं कि 'तू यौवन के पदार्पण के साथ ही युवती प्रेम में उलझ गया अज्ञान और अहंकार में मतवाला हो गया! अपने धर्म-मर्यादा को त्याग दिया।' यथा—

जौवन जुवती संग रँग रात्यो। तब तू महामोद मद मात्यो॥
ताते तजी धरम मरजादा। बिसरे तव सब प्रथम बिषादा॥१

वृद्धावस्था—

इस प्रकार बाल्यावस्था, और यौवनावस्था का निदर्शन करने के पश्चात् गोस्वामी जी अपनी वृद्धावस्था का परिचय देते हैं। बुढ़ापे की इच्छा न करते हुए भी वह आ धमका, सारे शरीर पर छा गया। शरीर जीर्ण हो गया और रोगों का घर बन गया। सिर हिलने लगा, इन्द्रियों की शक्ति का ह्रास हो गया। यथा

देखत ही आई बिरुधाई। जो तैं सपनेहुँ नाहि बुलाई॥

१. विनय पद १३६ (७)

सो प्रगट तनु जरजर जरावस, ब्याधि सूल सतावई।
सिरकंप इन्द्रिय-सक्ति प्रतिहत, वचन काहु न भावई ॥१

इस प्रकार हम देखते हैं कि विनयपत्रिका में, गोस्वामीजी के तीनों पनों का बोध हमें पूर्णरूपेण हो जाता है। बालदशा में अनन्त कष्टों, रोगों व बाधाओं को झेलते हुए गोस्वामी जी खेलते-खाते रहे ; संसार से अनभिज्ञ से रहे। यौवनावस्था में पदार्पण करते ही युवतियों के पाश में फँस गए। गर्भसमय के कष्टों तथा बाल्यावस्था की यातनाओं को भूल कर अपने धर्म-मर्यादा तक को त्याग दिया। इसका फल यह हुआ कि बुढ़ापे के आते ही वे शरीर से जीर्ण हो गये और ग्लानि से जलने लगे। अनेक रोगों का सामना करना पड़ा। सूरदास ने भी अपने एक पद में आत्म-ग्लानि का निर्देश करते हुए लिखा है—'तीनों पन ऐसे ही बीते केस भए सिर सेत।'[२] देखिए शंकराचार्य इन्हीं दशाओं को अपने शब्दों में कैसे सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करते हैं—

बालस्तावत्क्रीड़ासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।
वृद्धास्तावच्चिंतामग्नः परिब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥

विनय के एक पद की केवल दो पंक्तियों में ही गोस्वामीजी ने, शंकर के उक्त कथन के अनुरूप, अपनी तीनों अवस्थाओं का अत्यन्त स्पष्ट व स्वस्थ चित्र खींच दिया है। यथा—

खेलत खात लरिकपन गो चलि, जौवन जुवतिन लियो जीत।
रोग-वियोग-सोग स्रमसंकुल बड़ि बय वृथहि अतीति ॥३

अर्थात् लड़कपन खेलते-खाते व्यतीत हो गया और यौवन पर युवतियों ने विजय प्राप्त कर ली। बुढ़ापा रहा सो वह रोग, वियोग, चिन्ता और परिश्रम में ही बीत गया।)

जाति—

गोस्वामीजी की जाति के विषय में भी विनय-पत्रिका में कुछ सीमा तक प्रमाण मिलता है। जो पद इससे सम्बन्धित हैं उनकी एक पंक्ति

१. वही, पद १२६ (८) २. सूरसागर ३. विनय० पद २३४

है–'दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।"१ इसमें जो 'सुकुल' शब्द आया है उसी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तुलसी दास शुक्ल थे। शुक्ल सनाढ्यों का एक गोत्र है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने भी इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण ही माना है। परन्तु 'सुकुल' शब्द का अर्थ (सु+कुल) अच्छे कुल से लेने पर इतना ही कहा जा सकता है कि तुलसीदास एक अच्छे कुल में जन्मे थे। पं० चन्द्रबली पांडे इसी अर्थ को मानते हैं। उनके अनुसार यही अर्थ संगत प्रतीत होता है; क्योंकि तुलसीदास ने 'कवितावली' में एक स्थान पर लिखा है :—

भलि भारत-भूमि, भले कुल जन्मु-समाजु सरीरु भलो लहि कै,
करषा तजि कै परषा बरषा, हिम, मारुत घाम सदा सहि कै।
जु भजै भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातकु ज्यों गहि कै,
नतु और सबै विषबीज बए हर-हाटक कामदुहा नहि कै ॥२

६—इस प्रकार 'भले कुल' में जन्म लेने की बात कितने सीधे-सादे ढङ्ग से कह दी गयी है। इसी बात को विनय के ढंग पर 'सुकुल-जन्म' कह दिया है, जिसकी पुष्टि 'विनय-पत्रिका' में एक स्थान पर और होती है—

ज्ञान-भवन मनु दियहु नाथ, सोउ पाय न मैं प्रभु जाना ॥

तुलसी की जाति के विषय में जब हम अन्य विद्वानों के मतों का पर्यालोचन करते हैं तो पाते हैं कि वे सब एक मत नहीं हैं। कुछ कहते हैं कि तुलसीदास सरयूपारी ब्राह्मण थे; कुछ का विचार है कि कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और कुछ विश्वास करते हैं कि ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। 'शिवसिंह सरोज' में इन्हें सरयूपारी माना है। राजा प्रतापसिंह ने 'भक्त कल्पद्रुम' में अपने विचार कान्यकुब्ज होने के विषय में रक्खे हैं। डा० ग्रियर्सन ने इन्हें पाराशर गोत्र के सरयूपारी दुबे घोषित किया है। काष्ठजिह्वा स्वामी ने भी कहा—

'तुलसी पराशर गोत दुबे, पतिऔजा के'।३

यहीं पर 'हिन्दी नवरत्न' में दिया हुआ मिश्र बन्धुओं का मत भी दे देना उचित है—"इनको (तुलसीदास को) सरयूपारीण मानने में

१. विनय० पद १३५ १) २. कवितावली, पद ३३ ३. जनश्रुति के आधार पर

उड़ान; परन्तु इसकी पुष्टि 'संक्षिप्त मूल गोसाईं चरित' से हो जाती है।

गोस्वामीजी का जो प्रेम स्त्री के प्रति था, वही अब अपने उसी अनन्य व अगाध रूप में भगवान की ओर मुड़ गया। उसकी आत्मा में एक परिवर्तन आया, वह लौकिक न रहकर अलौकिक हो गया। भगवान के महत्व ने उस प्रेम में श्रद्धा का योग दिया और इस प्रकार गोस्वामी जी का लौकिक प्रेम अलौकिकता एवम् श्रद्धा के समन्वय से भक्ति में बदल गया।

आलम्बन में परिवर्तन—

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी ने भगवान को अपने प्रेम का आलम्बन केवल केन्द्र-परिवर्तन के रूप में बनाया था। उनमें अनुराग तथा आत्मपरित्याग पहले से ही विद्यमान था, आत्मप्रबोध द्वारा आलम्बन परोक्ष हो जाने से ये भावनाएँ और तीव्र हो गयीं। इस बात की साक्षी उनका काव्य भी देता है।

अतः यह स्पष्ट है कि गोस्वामीजी के स्नेह एवं प्रेम का आलंबन आत्मा से परमात्मा में परिणत हुआ था। यह आलम्बन प्रारम्भ में मूर्त्त ही था पर क्रमशः अमूर्त्त हो गया। जो व्यक्त रूप में बाबाजी के हृदय का पात्र था वह अव्यक्त रूप में उनका हृदय ही बन गया।

पर्यटन—

आसक्ति और विरक्ति के दो प्रतीरों के बीच में बहते हुए बाबाजी के जीवन ने बड़े ही ऊबड़-खाबड़ प्रदेशों का उतार-चढ़ाव देखा होगा। उनके जीवन के इस पक्षपर विद्वानों ने बहुत ही कम प्रकाश डाला है। परन्तु यदि प्रयत्न किया जावे तो 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी का यह जीवन भी प्राप्त हो सकता है। गोस्वामीजी के पर्यटन के विषय में उनकी रचनाओं में पर्याप्त सूचना मिल जाती है। परन्तु जहाँ तक 'विनय-पत्रिका' का सम्बन्ध है हम इससे केवल इतना ही पता लगा सकते हैं कि वे चित्रकूट तथा काशी गए थे। वैसे तो कोई ऐसा पावन स्थान नहीं था जहाँ कि वे अपनी वैराग्यावस्था में न जा चुके हों परन्तु 'विनय-पत्रिका' में उन्होने केवल इन्हीं दो नामों का उल्लेख किया है। एक पद में वे कहते हैं—"अब चित चेतु चित्रकूटहिं

चलु"१ और दूसरे में लिखते हैं—"सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी।"२ चित्रकूट के विषय में यह भी कहा जाता है कि यही वह स्थान है जहाँ इन्हें अपने 'राम' के दर्शन हुए थे। 'विनय-पत्रिका' में इससे सम्बन्धित एक पंक्ति है—

तुलसी तोंको कृपालु जो कियो कोसलपालु,
चित्रकूट को चरित चेतु चित करि सो।३

अन्तिम काल—

'विनय-पत्रिका' में एक स्थान पर लिखा है—"स्वारथ के साथिह्न* तज्यो तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरो।४ इससे स्पष्ट है कि ऐसी दशा में उनके स्वारथी साथियों ने भी उनका साथ छोड़ दिया था। 'तिजरा को सो टोटक' में कितनी मार्मिक व्यंजना है। बाबाजी अपनी वृद्धावस्था में विनय-पत्रिका लिखते समय अपने उस बाल-समय को नहीं भूले थे और इसीलिए भगवान राम की कृपा प्राप्त करने के हेतु विनय करते समय अपनी दशा का विस्तृत एवं विशद वर्णन करना न भूले। अपनी अनाथावस्था को दिखलाने का प्रयास एक इसी पद में नहीं वरन् अनेक पदों में किया है। "हौं सनाथ ह्वै हौं सही, तुमहूँ अनाथपति जो लघुतहि न भितैहो ५" की एक ही पंक्ति में बाबाजी ने अपने को अनाथ भी घोषित कर

१. विनय० पद २४ २ वही पद २२ ३. वही, पद २६४।

* "स्वारथ के साथिह्न" का अर्थ अनेक आलोचकों ने गोस्वामी जी के 'माता-पिता' से लगाया है, मेरे विचार से अर्थ की यह खींचा-तानी केवल इसलिये की गई है ताकि वे प्रमाणित कर सकें कि उनके माता पिता ने उन्हें 'तिजरे' के टोटके की भाँति त्याग दिया था। 'स्वारथ' शब्द साफ बतलाता है कि उनके पिता-माता के लिए 'साथिह्न' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। गोस्वामी जी यदि बालपन से ही अलग कर दिये गए थे तो 'स्वारथ' शब्द को लिखने का प्रश्न ही नहीं आता। स्वार्थ आदि की पहचान तो युवावस्था में ही हो सकती है।

४. विनय० पद २७२। ५. वही पद २७०।

दिया और भगवान राम को 'अनाथपति' की उपाधि भी दे डाली। इसी अवस्था से प्रेरित होकर अनेक स्थानों में उन्होंने 'राम' को ही अपनी माता, पिता तथा गुरु कहा है। दो एक उदाहरण देखिए :—

(१) 'तुलसिदास कासों कहै ? तुमहीं सब मेरे प्रभु गुरु मातु पितैहो'१

(२) 'सखा न, सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु आप।
माय बाप तुही सांचो तुलसी कहत ॥'२

गोस्वामी जी ने 'विनय-पत्रिका' में अपनी दीनता को स्पष्ट शब्दों में प्रकट करते हुए कह दिया है कि वे अपने अमूल्य जीवन में 'राम' की शक्ति, शील तथा कृपा को न समझ सके। वे अन्य व्यर्थ के विषयों में ऐसे लग्न रहे कि कभी उनका ध्यान 'राम' की ओर गया ही नहीं। निम्न तीन पंक्तियों में उनके दुःखी अन्तर की कलपती हुयी भावनाओं का कैसा निरीह चित्र खिचा हैं—

'राग – रोष - ईर्षा - बस रुची न साधु – समीति।
कहे न सुने गुन गन रघुवर के, भई न रामपद-प्रीति ॥
हृदय दहत पछिताय–अनल अब, सुनत दुसह भवभीति ॥'३

इन शब्दों में बाबाजी के आंतरिक दुख की कैसी विशद व्यंजना मिलती हैं। हम यदि उनके अभ्यंतर जगत में प्रवेश करते हैं तो केवल एक ही पुकार सुनते हैं—"डासत ही गई बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ ! नींद भरि सोयो।"४

मृत्यु—

इस प्रकार महाकवि तुलसीदास के जीवन के कुछ प्रमुख पक्षों का अवलोकन हुआ। 'विनय-पत्रिका'-कार पूर्ण वैराग्यावस्था में पदार्पण करने से पूर्व भृगु-आश्रम, हंस नगर, जगन्नाथपुरी तथा गऊघाट में भी रह चुके थे।

---

१. वही पद २७०। २. वही पद २५६।
३. विनय० पद २३४ ४. वहीं पद २४५

अन्त में ये अस्सीघाट पर आये थे। यहीं पर संवत् १६८० में उनका परलोक-वास* हो गया।

सारांश—

'विनय-पत्रिका' में प्राप्त सामग्री से तुलसी के जीवन का पर्याप्त अंश जाना जा सकता हैं। बालपन से लेकर वृद्धावस्था तक का रंग-बिरंगा चित्र देखने को मिल जाता हैं। उनके सम्मुख जीवन एक समस्या बन कर खड़ी हो गयी थी, यह स्पष्ट रूप से जाना जा सकता हैं। बालपन में ही माता-पिता इस असार संसार की गहन कालिमा में छोड़कर परलोक सिधार गए थे। अनाथावस्था में महात्मा नरहरिदास की संरक्षा में पाले-पोसे गए।

*तुलसीदास की मृत्यु के कारण के विषय में कुछ का मत हैं कि यह प्लेग के कारण हुई थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अपने अन्तिम दिवस में ये काशी में थे। काशी में प्लेग फैला और ये उसके शिकार हो गए। इसके प्रमाण में निम्न पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं:—

"संकर-सहर सर, नर नारि वारिचर,
बिकल सकल महामारी मांजा भई हैं।

× × × ×

पाहि रघुराज, पाहि कपिराज रामदूत,
रामहू की बिगरी तुही सुधारि लई है।

तुलीदास की मृत्यु की तिथि के विषय में भी मतभेद हैं। इसकी तिथि के लिए निम्न दोहा बहुत प्रचलित हैं—

संवत् सोरह सै असी, असी गंग के तीर,
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो सरीर।

अर्थात् संवत् १६८० में असी घाट पर श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन उनका निधन हुआ। परन्तु अब 'संक्षिप्त मूल चरित' में निम्न दोहा उपलब्ध होने के कारण सर्वमान्यतिथि का ज्ञान हो गया हैं—

संवत् सोरह सै असी, असी गंग के तीर,
श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो सरीर।

महात्मा नरिहरिदास ने इन्हें राम-कथा समझाई और उसकी सत्ता का ज्ञान कराया। इन्होंने अपना नाम रामबोला भी बताया हैं। वैसे इनका नाम तुलाराम था और पंडितों द्वारा तुलसी रक्खा गया था। ये जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका विवाह रत्नावली नामक युवती से हुआ था जिसने लौकिक से अलौकिक अनुराग का पाठ पढ़ाया था। अपनी पत्नी के कुछ शब्दों को सुनने के पश्चात् इनका मन इस असार संसार से उचट गया और ये भगवान राम की महिमा दास रूप में गाने लगे। ये इस वैराग्यावस्था में चित्रकूट तथा अन्य पावन स्थानों में रमते हुए अन्त में काशी में आकर रहे, जहाँ संवत् १६८० में उनका देहान्त हो गया।

—:-*-:—

विनयपत्रिका का प्रयोजन

इस ग्रन्थ के लिखने में गोस्वामीजी की स्वार्थसिद्धि छिपी थी, ऐसा हम नहीं कह सकते। पूर्ण ग्रन्थ को केवल सरसरी निगाह से ही देख लेने से प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। विनय-पत्रिका को हम कवि के चारों ओर होने वाली आपदाओं तथा सर्वजनीन दुखों का संग्रह कह सकते हैं। वह कवि की स्वार्थ-साधना से परे लोकोन्मुख प्रवृत्ति का दर्पण है।

वह व्यष्टि-हृदय का चित्र नहीं वरन् समष्टि का प्रतिबिम्ब है। कहीं-कहीं ऐसा आभास अवश्य होने लगता है कि तुलसीदास अपने 'राम' से केवल अपने ही कल्याण के लिए याचना कर रहे हैं, अपनी ही दशा के सुधार-निमित्त तथा मोक्षप्राप्ति के हेतु प्रार्थना कर रहे हैं। परन्तु यदि उनकी याचना, प्रार्थना अथवा आत्म-प्रदर्शन के गाम्भीर्य अथवा उसकी विशालता को विश्लेषणात्मक तथा गवेषणात्मक दृष्टि से देखा जाय और उस पर अनुप्रेक्षापूर्वक विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि यह सब आत्म-कल्याण अथवा आत्म लाभ के लिए नहीं वरन् मानव-मात्र के मनःशोधन एवम् पंकिल दशा सुधार द्वारा कल्याण के हेतु सर्वजनीन आर्त्त पुकार है।

एक पद में ही नहीं, लगभग सभी पदों में कवि अति खिन्न, दुखी एवं संतप्त है। यह खिन्नता एवं दुख क्यों है? इसके कई कारण हैं। प्रथम कारण

मर्यादा से अनभिज्ञ दशा को देखकर घबराये हुए अवश्य जान पड़ते हैं पर उन्हें पूरा विश्वास है कि उनके 'राम' की कृपा से सब शुभ होगा। और होता भी ऐसा ही है। उनकी विनय को स्वीकृति प्राप्ति हो जाती है और सब ओर मंगलमय वातावरण छा जाता है—

दीजै दादि देखि नातौ–बलि, मही मोद-मंगल रितई है।
भरे भाग अनुराग लोग है, राम अवध चितवन चितई है॥
बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि, करुना-बारि भूमि भिगई है।
राम-राज भयो का सगुन सुभ राजा राम जगत-बिजई है॥
समरथ बड़ो सुजान सुसाहब, सुकृत-सैन हारत जितई है।
सुजन सुभाव सराहत सादर, अनायास सांसति बितई है॥१

सारांश यह कि 'विनय-पत्रिका' का प्रयोजन है—शीलसिंधु भक्त वत्सल भगवान की दुःख-निवारक सहायता की माँग। अपनी दारिद्र्य-पूर्ण, करुण, असहाय निरुपाय दशा को लेखनी बद्ध करके भगवान की कृपार्चना ही 'विनय-पत्रिका' का मूल आशय है। यह दशा युग के प्रतिनिधि संत तुलसीदास की है, इसीलिए परोक्ष रूप में सर्वजनीन है। अतः विनय-पत्रिका की टेर में अनेकत्व में एकत्व प्रदर्शित करने की शक्ति है और भिन्नत्व में अभिन्नत्व उत्पन्न करने की क्षमता। वस्तुतः विनय-पत्रिका के प्रयोजन में गोस्वामी जी की अपनी दुख-गाथाओं अथवा पीड़ाओं का संग्रह अपेक्षित नहीं है वरन् उसमें सर्वजन के दुखों, लोक की पीड़ाओं तथा यातनाओं के विशद चित्रण की भावना अन्तर्निहित है।

—:*:—

१. विनय० पद १३९ (९, १०, ११)

विनयपत्रिका में क्रम

'विनय-पत्रिका' भक्ति-भाव से प्रेरित होकर रची गई है। इस भक्ति-भाव में कवि के दैन्य-भाव का पूर्ण सामंजस्य है। यह दैन्य-भाव संताप-जन्य है, जिसका मूल कारण है कलियुग। कलियुग कवि की सामयिक परिस्थितियों का सामूहिक नाम है। अतः कवि की प्रत्येक याचना में, हर पुकार में परिस्थिति-जन्य वेदना सन्निविष्ट है। मानव-मात्र के कल्याण हेतु की गयी प्रार्थना में कवि अपनी पंकिल दशा का स्पष्ट चित्र अङ्कित करता है। इस चित्र में गहरी रेखाओं के साथ-साथ प्रत्येक रंग अपनी पृथक विशेषता रखता है। यह रंग किसी एक मनुष्य के मनोभावों अथवा मनःदशा को नहीं अपितु मनुष्य मात्र के हृदय को व्यंजित करता है। इस व्यंजना में कवि इतना प्रवीण है कि वह प्रत्येक परिस्थिति, प्रत्येक भाव, प्रत्येक दशा को इस प्रकार युतअनुस करता है कि उसकी वेदना, उसके त्रस्त हृदय से निसृत होकर एक करुण कहानी कहने लगती है। इस कहानी में एक क्रम है, एक सिलसिला है। पद अवश्य स्फुट हैं, उनकी रचना अवश्य गीति-पद्धति के अनुसार हुयी है और कहीं-कहीं एक ही भाव अनेक पदों में केवल शब्द-परिवर्तन के साथ प्रयुक्त हुआ है, तथापि सारे पदों की भाव-शृंखला परखने पर ज्ञात होता है कि प्रत्येक कड़ी अपना निजी अस्तित्व रखती है, अपना पृथक योग

प्रदान करती है। यदि पदों को उनमें प्रयुक्त भावों के अनुसार सँवार कर रख दिया जाय तो, दो-चार पदों को छोड़ कर, सारे पद स्वतंत्र रहते हुए भी एक क्रमसूत्र में बँधे मिलेंगे। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार विनय-पत्रिका में "साधारण रूप से देखने में पद क्रमहीन जान पड़ते हैं, पर वास्तव में उनमें एक प्रवाह, एक क्रम है।" उनका विचार है कि "विनय-पत्रिका एक पूर्ण रचना है, जिसकी रूप-रेखा ग्रन्थ के रूप में हुयी है१।"

इसलिए यह कहना कि 'विनय-पत्रिका' गीतपद्धति के अनुसार रचित स्वतन्त्र पदों का संग्रह मात्र है, मेरे विचार से उचित न होगा। 'विनय-पत्रिका' कवि के आत्मोन्मेष में सर्वजनीन वेदना को प्रतिबिम्बित करने वाले गीतों का और उस वेदना के निवारणार्थ भगवद्कृपा के हेतु याचनाओं का एक क्रमबद्ध संग्रह है।

भक्त प्रवर तुलसीदास को इस बात का पूर्ण ज्ञान था कि प्रार्थना-पत्र भगवान के दरबार में कैसे भेजा जाय। किसी नवसिखिया की भाँति प्रार्थना-पत्र सीधे भगवान के पास भेजने का प्रयास नहीं किया गया है। पहले, बारी-बारी से प्रत्येक देवतादि की स्तुति की है; और उनसे राम-भक्ति की याचना की है, क्योंकि वे प्रार्थना-पत्र भेजने के पूर्व अपने हृदय में राम की पूर्ण भक्ति का उद्रेक कर लेना चाहते थे। राम-भक्ति की वर-याचना के पश्चात् हम उन्हें उन पावन विभूतियों की स्तुति करते हुए पाते हैं जो 'राम' के दरबारी हैं। सीतामाता के समक्ष अपनी दीनता प्रदर्शित करते हुए उन्होंने प्रार्थना की है कि वे अपने पति से उनकी अनुशंसा कर दें। इस प्रार्थना से तुलसी का लोकरीति सम्बन्धी ज्ञान स्पष्टतः परिलक्षित होता है। वे जानते थे कि स्त्रियों को किस भाँति प्रसन्न किया जाता है। इस प्रकार सबसे प्रार्थना करने के पश्चात् तुलसीदास ने अन्त में श्री राम की स्तुति की है। स्तुतियों के उपरान्त उनकी विनय में हम समकालीन परिस्थिति तथा आत्म-दशा का वर्णन पाते हैं। अन्त में बड़े गिड़गिड़ाते हुए गोस्वामीजी ने यह पत्रिका भगवान के दरबार में पहुँचा दी। सब दरबारी पहले से मिले हुए थे ही, 'हाँ में हाँ' मिला दी और बाबाजी की विनय को स्वीकृति मिल गई।

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ४१८।

इस भाँति कथात्मक रचना न होने पर भी एक क्रम सा बँधा जान पड़ता है। 'विनय-पत्रिका' का प्रारम्भ श्री गणेश जी की वंदना से होता है।

गाइए गनपति जगबन्दन ।१

दूसरी स्तुति भगवान भास्कर की है।

दीन दयालु दिवाकर देवा ।२

तीसरी प्रार्थना सर्वशक्तिमान शिवजी से की गई है।

को जाँचिए संभुतजि आन ।३

शिव के भैरव रूप की भी आराधना की गयी है। यथा—

भीषनाकार भैंरव भयंकर भूत-प्रेत-प्रमथाधिपति विपतिरहता ।४

यह है कलि को डराने-धमकाने तथा उसकी शक्ति को क्षीण करने के निमित्त। तदोपरान्त पार्वती, गंगा, यमुना, काशी तथा चित्रकूट का यश वर्णन किया गया है। यथा—

(क) जय-जय जगजननि देवि ।५
(ख) जै जै भगीरथ नन्दिनि ।६
(ग) जमुना ज्यौ-ज्यों लागी बाढ़न ।७
(घ) सेइय सहित सनेह देहभरि, कामधेनु कलि कासी ।८
(ङ) सब सोच विमोचन चित्रकूट ।९

गंगा तथा चित्रकूट के वर्णन में जी बहुत रमा है। "अब चितु चेतु चित्रकूटहिं चलु"१० से तीव्र पावनेच्छा का भाव मिलता है। वह चित्त को एकाग्र होकर चित्रकूट में रमा देने की सलाह देता है।

गंगा को अनेकानेक विशेषणों से अभिहित करते हुए गोस्वामीजी ने उसकी धारा को स्वर्ग, धरा एवम् पाताल तीन-पथों पर प्रवाहित होने वाली कहा

---

१. विनय० पद १, २. वही, पद २,
३. वही०, पद ३. ४. वही, पद ११, ५. वही, पद १६,
६. वही, पद १७. ७. वही, पद २१, ८. वही, पद २२,
९. वही, पद २३. १०. वही, पद २४,

है। उसकी 'पाप-छालिका' शक्ति तथा अनुपम रूपराशि का गुणानुवाद करने में उन्होंने कोई कमी नहीं रक्खी।

तदनन्तर केशरी नन्दन श्री हनूमान की वन्दना आरम्भ होती है। यथा—

जयति अंजनी-गर्भ-अंभोधि-संभूत बिधु।१

इनके समक्ष अपना कच्चा चिट्ठा खोल कर रख दिया गया है। इन्हें गोस्वामी जी ने अपनी करुण दशा से पूर्णतः परिचित करा दिया है। ऐसा ज्ञात होता है मानो ये ही राम के दरबार में 'कर्त्ता-धर्त्ता' हैं। इनसे विनय करने के पश्चात् वे उन प्रमुख दरबारियों से प्रार्थना करते हैं जो रामचन्द्रजी के अधिक निकट हैं। ये हैं लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न।

(१) लाल लाड़िले लखन हित हौ जन के।२
(२) जयति-भूमिजा-खन-पदकंज-मकरंद रस-
रसिक-मधुकर-भरत भूरिभागी॥३
(३) जयति जय सत्रु-करि-केसरि सत्रुघ्न।४

इस प्रकार सब दरबारियों को वे मिला लेते हैं। अब उन्हें चिन्ता होती है कि सिफारिश कौन करे। इसके लिये वे 'अम्ब' सीता से विनती करते हैं कि वे उनके विषय में अवसर पाकर कुछ बात चला दें—

कबहुँक अम्ब, अबसर पाइ।
मेरियो सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ॥५

इस तरह ४२ पद पूरे हो जाते हैं। ४३वें पद में राम का संक्षिप्त रूप-वर्णन हुआ है। ४५वें पद में उनकी वन्दना हुयी है, ४८वें पद में श्रीकृष्ण-स्तुति, ५२ वें में दशावतार-कथा और ६१, ६२ व ६३ वें पदों में श्री विंदु-माधव से प्रार्थना की गयी है। इन वन्दनाओं, स्तुतियों आदि के पश्चात् 'विनय-पत्रिका' में तुलसीदास अपनी मूल भावनाओं का प्रकाशन करते हैं। जीव को भगवान के समक्ष अपनी दैन्य-भावना, अपना दुःख निवेदन तथा

१. विनय, पद २५,
२. वही, पद ३७. ३. वही, पद ३६, ४. वही, पद ४०,
५. वही, पद ४१.

अपनी निरुपायावस्था कैसे रखनी चाहिए—यह गोस्वामीजी भली-भाँति जानते थे। ६४वें पद तक अनेकानेक भावों का प्रदर्शन बड़ी सफलता पूर्वक हुआ है। कहीं जीव की असहायता कहीं आत्मग्लानि और कहीं अपनी करुण दशा का चित्र खींचा गया है। कहीं-कहीं तो गोस्वामीजी पूर्ण समाज के प्रतिनिधि रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। यथा—

तौ मन में अपनाइए तुलसी कृपा करि, कलि विलोकि हहर्‌यो हौं।१

यह कलि-भय के कारण 'हहर्‌यो हौं' केवल तुलसी की आवाज नहीं; इसमें कलि-संताप से दुखी समाज का आर्त्तनाद छिपा हुआ है, इसमें उसके संतप्त हृदयों की धड़कन बोल रही है।

जब इस प्रकार विनय की पत्रिका पूरी हो गयी, तब प्रश्न आया कि इसे भगवान राम के समक्ष प्रस्तुत कौन करे। गोस्वामीजी ने हनूमानजी तथा लक्ष्मणजी से प्रार्थना की कि वे किसी प्रकार इस पत्रिका को भगवान राम के समक्ष प्रस्तुत कर दें। देखिए:—

पवन-सुवन, रिपुदवन, भरतलाल, लखन दीन की।
निज निज अवसर सुधि किये, बलि जाऊँ॥
दास आस पूजिहै खास खीन की।
राजद्वार भली सब कहैं साधु समीचीन की॥
सुकृत सुजस साहिब कृपा स्वारथ परमारथ।
गति भये गति विहीन की॥२

भगवान राम का दरबार लगा; सब दरबारी उपस्थित हुए; रुचि तो सबकी दिखाई दी कि उस 'विनय' को सामने रक्खा जाय परन्तु प्रसंग किसी ने न छेड़ा। लक्ष्मण कुछ स्वच्छन्द प्रकृति के थे, इसलिए उन्होंने हनूमान तथा भरत की रुचि देखते हुए प्रसंग छेड़ दिया कि 'इस कलिकाल में आपका नाम लेने से एक सेवक की प्रीति निभ गयी है'; और विनय की पत्रिका प्रस्तुत करदी। श्रीरामचन्द्र इस बात पर हँसे और बोले "सत्य है,

१. विनय० पद २६७। २. वही० पद, २७८।

सुधि में हूँ लई है"।१ और तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' राम द्वारा स्वीकृत हो गयी। तुलसीदास ऐसा देखकर अनायास ही कह उठे :—

मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है।२

सारांश यह कि 'विनय-पत्रिका' में कथा न होते हुए भी प्रबन्धात्मकता है, आद्योपान्त विचारों की शृंखला सी बँधी हुयी है। पद स्फुट अवश्य हैं परन्तु उनके भावों के साम्य ने उन्हें आपस में बाँध दिया है।

१. विनय० पद २७६। २. वही, पद २७६।

तुलसी के अन्य ग्रंथ और विनयपत्रिका

वैसे तो महाकवि तुलसीदास ने तेरह ग्रन्थ लिखे हैं परन्तु प्रसिद्ध तथा विशेष ग्रंथ ७ ही हैं :

१. दोहावली
२. कवित्त रामायण (कवितावली)
३. गीतावली
४. कृष्ण गीतावली
५. विनय-पत्रिका
६. रामचरितमानस
७. बरवै रामायण

उपर्लिखित ग्रन्थों में कृष्ण गीतावली तथा बरवै रामायण के अतिरिक्त लगभग सभी ग्रन्थ वर्ण्य विषय के आधार पर विनय-पत्रिका से साम्य रखते हैं। सभी का कथानक तुलसी के 'राम' के चारों ओर मकड़ी के जाले की भाँति बुना हुआ है। इनमें कहीं-कहीं भावों की एकरूपता होते हुए भी समान भावावेग समान छन्द योजना अथवा समान कथा-प्रवाह नहीं मिलता। यदि दोहावली दोहा छन्द में रचित है तो कवितावली सवैया, छप्पय, कवित्त आदि में। 'मानस' में दोहा-चौपाई का, 'बरवैरामायण' में बरवै का और 'विनय'

साथ ही साथ उनकी मनोवृत्ति का विशद निरूपण भी है। अतः हम 'विनय-पत्रिका' में ७ प्रकार के पद पाते हैं :—

१. **स्तुति**—कवि की स्तुति श्रीगणेश से आरम्भ होती है और अनेकानेक देवी-देवताओं के चरणारबिंदों में होती हुई अन्त में श्री रामचन्द्र तक पहुँचती है।

२. **स्थान-परिचय**
३. **आत्म-उपदेश**
४. **संसार की असारता**
५. **आत्म-ग्लानि**
६. **आत्म-अभिव्यक्ति**
७. **रामनाम-माहात्म्य**

[१] स्तुति—

स्तुति के प्रत्येक पद में तीन कक्षाएँ मिलती हैं। पहली, गुण वर्णन, जिसका निर्वाह कथाओं और रूपकों द्वारा होता है। दूसरी, रूप वर्णन जो अलंकारों के रूप में है और तीसरी राम-भक्ति की वर-याचना जो कि अन्तिम पंक्ति में मिलती है।

'विनय-पत्रिका' में सर्वप्रथम 'श्रीगणेश-स्तुति' है। इसकी प्रथम तीन पंक्तियों में गणेश को अनेक विशेषणों से अभिहित करके पहले तो वंशावली बता दी गयी है—'संकर-सुवन-भवानी-नन्दन'१ और फिर 'गजबदन' कहकर रूप-वर्णन कर दिया गया है और अन्त में चतुर्थ पंक्ति में 'राम-सिय' की भक्ति की माँग की गयी है—"माँगत तुलसीदास कर जोरे बसहिं रामसिय मानस मोरे"२

दूसरी है 'सूर्य-स्तुति'। इसमें भी यही क्रम मिलता है। यहाँ भी अन्त में "हरि संकर-बिधि-मूरति स्वामी"३ कहकर वही 'राम-भक्ति' माँगी गयी है—

"वेद-पुरान प्रगट जस जागै। तुलसी राम-भक्ति वर माँगै ॥४

तीसरी है 'शिव-स्तुति'। शिव की स्तुति में गोस्वामी जी खूब रमे हैं।

(१) विनय पद १ (२) वही, पद १ (३) वही, पद २ (४) वही, पद २,

इससे सम्बद्ध १२ पदों की रचना हुयी है। पहले पद के आरम्भ में "दानी कहुँ सङ्कर सम नाहीं"१ लिखकर अन्तिम में वे अपने विषय में केवल इतना लिखते हैं—"तुलसिदास ते मूढ़ माँगने, कबहुँ न पेट अघाहीं"२ इसी प्रकार शिव-सम्बन्धित सभी प्रार्थनाओं में शिव को परमोच्च दानी कहा गया है; और उनसे 'रामचरन-रति'३ 'हरि-चरन-कमल-वर'४ 'श्रीराम पद-पङ्कज भक्ति'५ का वरदान माँगा गया है। 'शिव स्तुति' के अन्तर्गत अन्तिम चार पद "भैरव रूप शिवस्तुति" हैं। इनमें शिवजी का भयंकर, प्रलयंकारी रूप दिखाया गया है और अपने त्रास को मिटाने की प्रार्थना की गयी है। इन चार पदों में तुलसी की मधुर, सरल भाषा संस्कृत-पदावली में परिणत हो गई है। एक उदाहरण देखिए :—

संकरं संप्रदं सज्जनानंददं, सैल-कन्या-वरं परम रम्यं।
काम-मद-मोचन तामरस-लोचनं, वामदेवं भजे भावगम्यं॥

× × ×

तज्ञमज्ञान-पाथोधि-घट संभवं, सर्वगं सर्व सौभाग्यमूलं।
प्रचूर भव-भंजनं प्रनत जन रंजनं, दास तुलसीसरन सानुकूलं॥६

चौथी है 'देवी-स्तुति'। इनकी स्तुति में दो पद रचे गये हैं। दोनों में भाषा संस्कृत-शब्द-गर्भित है। दोनों पदों की अन्तिम पंक्तियों में भक्त प्रवर तुलसी ने अपने 'राम' के चरणों में अटूट आसक्ति व अनन्य निष्ठा का वर 'समस्त लोक स्वामिनी' 'भक्ति-मुक्ति दायिनी' 'दुसह दोष दुख दलनि' जैसी देवी से माँगा है। यथा—

(क) देहि मा, मोहि पन प्रेम यह नेम निज,
राम घनस्याम तुलसी पपीहा।७

(ख) रघुपति पद परम प्रेम। तुलसी यह अचल नेम,
देहु ह्वै प्रसन्न पाहि प्रनत पालिका।८

---

(१) विनय०, पद ४ (२) वही, पद ४ (३) वही, पद ७ (४) वही, पद ६ (५) वही, पद १०
(६) वही, पद १२ (७) वही, पद १५ (८) वही, पद १६,

पाँचवीं है 'गंगा-स्तुति'। इससे सम्बद्ध केवल चार पद मिलते हैं। गंगा से भी तुलसी ने वही राम-भक्ति की ही याचना की है। "तुलसी करु बानि बिमल"१ की प्रार्थना करते हुए गोस्वामीजी "देहि रघुवीर-पद-प्रीति निर-भर मातु, दास तुलसी त्रास हरनि भवभामिनी"२ भी बड़े चुपके से कह देते हैं।

छठवीं है 'यमुना-स्तुति'। इस स्तुति में तुलसी का जी कुछ रमा सा नहीं जान पड़ता। इस स्तुति को तो बिल्कुल चलताऊ ढंग से ही रचा गया है। पूरे पद में केवल चार पंक्तियाँ हैं। इन पंक्तियों में न तो भाषा ही अच्छी बन पड़ी है और न भाव ही सारगर्भित हैं। इस स्तुति को तुलसी ने टाल सा दिया है—ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि न तो यमुना की प्रशंसा में ही कुछ विशेष बात कही है और न अन्तिम पद में—अन्य स्तुतियों की भांति—'राम चरन-रति' की वर-याचना ही की है।

सातवीं है 'काशी-स्तुति'। इस पद में गोस्वामी जी ने काशी के पावन स्थान का माहात्म्य बतलाते हुए कहा है 'सेइय सहित सनेह देहभरि, काम-धेनु कलि कासी"३ अर्थात् इस कलियुग में काशीरूपी कामधेनु की सेवा प्रेमपूर्वक जीवन-पर्यन्त करनी चाहिए। आगे इस स्थान की विशेषता बतलाते हुए वे कहते हैं—"समनि सोक संताप पाप रुज, सकल सुमंगल रासी"४ अर्थात् यह धेनु दुःख-क्लेश पाप और रोग का नाश करने वाली तथा सब प्रकार के कल्याणों की राशि है और अन्त में स्वयं को शिक्षा देते हुए लिखते हैं—"तुलसी बसि हरिपुरी राम जपु, जो भयो चहै सुपासी"५ अर्थात् हे तुलसी, यदि तू सुखी होना चाहता है तो काशी में जाकर रह और निरन्तर राम का नाम जप। इस पद में साग-रूपक बहुत ही सुन्दर तथा सफल बन पड़ा है।

आठवीं है 'चित्रकूट-स्तुति'। इस पद के आरम्भ में ही इस स्थान की गुणावली प्रस्तुत करते हुए बाबाजी कहते हैं—"सब सोच-बिमोचन चित्रकूट। कलिहरन, करन कल्यान बूट"६; अर्थात् चित्रकूट सब चिन्ताओं से छुटकारा

(१) विनय०, पद २० (२) वही, पद १८ (३) वही, पद २२ (४) वही, पद २२ (५) वही पद २२ (६) वही, पद २३,

मातु-पिता, गुरु गनपति सारद । सिवा समेत सँभु, सुक नारद ॥
चरन बँदि बिनवौं सब काहू । देहु राम पद नेह—निबाहू ॥१

दसवीं है 'लक्ष्मण-स्तुति' । इस पद के लिखने से पूर्व ही उन्होंने हनुमत् स्तुति के अन्तर्गत अन्तिम पद में लिखा है—"बंदौं राम लखन बैदेही । जे तुलसी के परम सनेही"२ इस प्रकार ज्ञात होता है कि लक्ष्मण तथा वैदेही को ही तुलसी अपना मुख्य हितकारी बनाना चाहते हैं । और इसीलिए 'लक्ष्मण स्तुति' के प्रथम पद की प्रथम पंक्ति में ही उन्होंने कहा है—"लाल लाड़िले लखन हित हौ जन के"३ अर्थात् 'हे लक्ष्मनलाल, तुम राम-भक्तों में हित-कारी हो ।' अनेक प्रकार समर्थ बतलाकर अन्त में कहते हैं—"धनी धन तुलसी से निरधन के ।"४ द्वितीय पद क्लिष्ट भाषा में है । यहाँ भी "हनुमत् स्तुति" की भांति ही 'जयति' शब्द का निरन्तर प्रयोग मिलता है ।

ग्यारहवीं है 'भरत-स्तुति' इस पद में भी 'जयति' का क्रम 'हनुमत् स्तुति' तथा 'लक्ष्मण-स्तुति' की भाँति ही रक्खा गया है । इस पद में भी संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य है । पूर्ण पद में भरत जी को आत्मोन्नत, कर्त्तव्यपरायण तथा कर्मशील बतलाते हुए तुलसीदासजी ने अन्त में कहा है—'मांडवी चित्त चातक नवाम्बुद-बरन, सरन तुलसीदास अभय दाता'५—अर्थात्, महा-रानी मांडवी के मनरूपी पपीहे के हेतु जो नूतन मेघवर्ण हैं, उन्हीं अभय-दान दाता भरत जी की शरण में तुलसीदास हैं ।

बारहवीं है 'शत्रुघ्न-स्तुति' । यहाँ 'शत्रुघ्न' नाम को ही विचाराधीन रखते हुए गोस्वामी जी ने प्रथम पंक्ति में लिखा है—"जयति जय सत्रु-करि-केसरि सत्रुहन सत्रुतम तुहिनहर—किरन केतू' ६—अर्थात् जो शत्रु-रूपी गजों का नाश करने के निमित्त सिंह के समान और शत्रु-रूपी अन्धकार तथा पाले को दूर करने के हेतु साक्षात आदित्य हैं ऐसे शत्रुघ्न जी की जय हो । 'जयति' का क्रम यथावत साधते हुए गोस्वामी जी अन्त में लिखते हैं—"दास तुलसी चरन-सरन सीदत बिभो, पाहि दीनार्त्त-संताप

(१) विनय० पद ३६ (२) वही; पद ३६ (३) वही; पद ३७ (४) वही; पद ३७ (५) वही; पद ३६ (६) वही, पद ४०

हर्त्ता।"१ इन शब्दों में गोस्वामी जी की दीनता का एक चित्र सा अङ्कित हो जाता है। वे कहते हैं कि यह तुम्हारा दास तुलसी तुम्हारे चरणों की शरण में आ कर भी कष्ट पा रहा है। दीनों के दुःखों को हरने वाले प्रभो, इस तुलसी की रक्षा करो। 'पाहि' शब्द से तुलसी की करुणावस्था की कैसी मार्मिक अभिव्यंजना होती है।

तेरहवीं स्तुति है सीताजी के प्रति। इस स्तुति में भी 'जयति' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है। उसका कारण यह है कि गोस्वामीजी 'अम्ब' कह कर अपनी प्रार्थना प्रस्तुत करते हैं। माता का हृदय तो वैसे ही दयाशील, वात्सल्यपूर्ण तथा उदारशील होता है, उसकी जयजयकार करने से क्या लाभ! उसकी कृपा तो पुत्र होने के नाते ही प्राप्त हो जाती है। इस पद में गोस्वामी जी अपनी बात को जगज्जननी के द्वारा 'राम' के पास तक पहुँचाने के हेतु कितनी निपुणता से अपनी करुणा प्रदर्शित करते है। प्रारम्भ में ही उन्होंने कहा है—"कबहुँक अम्ब अवसर पाइ। मेरिओ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ"२ इन शब्दों से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी में मानव प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की कैसी अद्भुत शक्ति थी। वे एक स्त्री से अपने को तारने की बात नहीं कहते। वे सीताजी से केवल इतना ही चाहते हैं कि कोई अवसर पाकर वे कोई करुण कथा का प्रसंग छेड़ दें और इस कथा को इस प्रकार प्रस्तुत करें कि उनका नाम 'राम' को पूछना पड़ जाय। अन्तिम पंक्ति में गोस्वामीजी "तरै तुलसीदास भव तव-नाथ-गुन गन गाइ"३ कहकर स्त्री की स्वमान-भावना को उकसाने की कला का कैसा युक्ति-पूर्ण परिचय देते हैं। "श्री सीता-स्तुति" के अन्तर्गत द्वितीय पद में भी यही भाव अन्तर्निहित है; परन्तु व्यक्त अन्य शब्दों द्वारा किया गया है। केवल एक विशेष बात इस पद में यह है कि गोस्वामी जी सीताजी को उनके पति की 'भूलने की आदत'४ बतलाते हुये प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें किसी समय 'सुधि' अवश्य दिला दें। परन्तु 'भूलने की आदत' को किसी अवगुण

(१) विनय० पद ४०, (२) वही; पद ४१ (३) वही; पद ४१ (४) वही, पद ४२

के रूप में नहीं कहा गया है, अन्यथा नारीसुलभ आत्माभिमान को ठेस लगने का भय थी और काम के बनने की अपेक्षा बिगड़ जाने की अधिक सम्भावना थी। तुलसीदास नारी हृदय के पारखी थे। वे इस 'आदत' को प्रभु की सरल प्रकृति के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। यथा—"निज गुन अरिकृत अनहितौ दास दोषु सुरति चित रहत न दिए दान की"१ अर्थात् श्रीराम (आपके नाथ) को अपना गुण, शत्रु का किया हुआ अनिष्ट, सेवक के अपराध और दिए हुए दान कभी याद नहीं रहते। इस प्रकार सीताजी को प्रसन्न करते हुए वे अपनी विनय उनके समक्ष रख देते हैं। उनका दावा है कि वे मनसा-बाचा-कर्मणा एक राम के ही हैं—

"तुलसीदास न बिसारिए मन-क्रम बचन जाके सपने हुँ गति न आन की'२

इस प्रकार अनेकानेक देवी-देवताओं से स्तुति करते हुए, अपनी दीनावस्था को दिखलाते हुए, और सबसे 'राम-भक्ति' प्रदान करने की याचना करते हुए गोस्वामी जी अन्त में अपने आधार, भगवान राम का सामीप्य लाभ करने के हेतु 'श्री राम-स्तुति' करते हैं। 'श्री राम-स्तुति' के अन्तर्गत लिखे हुए आरम्भ के दो पदों (४३ और ४४) में ही 'जयति' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रारम्भ में जय-जय-कार करने के पश्चात् वे अपनी निष्प्रण एवं परिहृत दशा का निष्कल चित्र प्रस्तुत करते हैं। आरम्भ के चार-पदों में भाषा संस्कृत-शब्द-गर्भित हो गयी है। इन पदों में प्रयुक्त शब्दावली से यह जान पड़ता है कि गोस्वामीजी केवल शुद्ध संस्कृत में ही अपनी प्रार्थना करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ इस पद में देखिए—

'श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन हरन भवभय-दारुनं
नवकंज लोचन, कंजमुख, करकंज, पदकंजारुनं॥
\+ + + +
इति वदति तुलसीदास संकर-सेष-मुनि-मन-रंजनं।
मम हृदय-कंज निवास करु कामादि खल दल गंजनं॥३

अथवा एक अन्य पद की निम्न पंक्तियाँ देखिए :—

(१) विनय०, पद ४२ (२) वही, पद ४२ (३) वही, पद ४५।

कोसलेन्द्र नवनीलकंजाभतनु, मदन—रिपु—कंजहृदि—चंचरीकं।
जानकीरवन, सुखभवन, भुवनैक प्रभु, समर-भंजन, परम कारुनीकं ॥१

इन दो उदाहरणों तथा इनसे पूर्व संस्कृत-शब्दावलियों से परिपूर्ण पदों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहाँ-जहाँ गोस्वामी जी की भक्ति-भावना को प्रसार मिला है अथवा जहा यह भक्ति-भावना कुछ तीव्र हो गई है वहीं इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग मुक्त रूप से किया गया है। महान् शक्तियों की स्तुति में यही शब्दावली शोभा देती है और उपयुक्त भी है; इस बात की पूर्ण जानकारी बाबाजी को थी। इस तथ्य की पुष्टि 'विनयपत्रिका' की इस स्तुति के अन्तर्गत आए हुए छयालीसवें पद से भी हो जाती है। 'राम' की स्तुति करते हुए गोस्वामी जी इस पद में, ऐसे लीन हो जाते हैं कि आरम्भ की पंक्ति में 'राम-राम' कहते ही चले जाते हैं—

'सदा राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु,
राम जपु मूढ़ मन, बार बारं।"२

इस पद से उनकी राम-भक्ति की अनन्यनिष्ठा का विशुद्ध एवं अपूर्व परिचय प्राप्त होता है। पद की प्रत्येक पंक्ति संस्कृत के शब्दों से रससिक्त एवम् मधुर हो उठी है।

इस पद में 'राम जपु' पद पाँच बार आया है। श्री वियोगीहरि जी का विचार है कि प्रत्येक 'राम जपु' क्रमशः 'शब्द', 'स्पर्श', 'रूप', 'रस' और 'गंध' के लिये प्रयोग में आया है। ये ही पाँच विषय संसार में जन्म लेने के कारण रूप हैं। इस विचार की पुष्टि में वे आगे यह भी कहते हैं कि 'एक-एक के नाश करने के लिए, मन को 'राम जपु' पद से चेतावनी दी गई है, ऐसा जान पड़ता है।" मुझे आश्चर्य है कि श्रीवियोगीहरि जी ने ऐसा किस प्रकार समझ लिया। कदाचित् उन्होंने इसी के आगे वाली पंक्ति पर ध्यान नहीं दिया, जिसमें लिखा है :—

"सकल सौभाग्य-सुख-खानि जिय जानि सठ,
मानि विस्वास बद बेद सारं।"३

(१) विनय० पद; ४६। २. वही, पद ४६। ३. वही पद, ४६।

अर्थात् वे सब सुखों तथा सौभाग्य के अक्षय भांडार हैं—ऐसा हृदय में रख कर और वे वेदों का सार है—ऐसा विश्वास करके हे मूर्ख! सदा राम राम कह। सारांश यह कि—'राम जपु' पाँच बार भावना की तीव्र अभिव्यक्ति के कारण ही प्रयुक्त हुआ है और इसीलिए इसमें संस्कृत-शब्दों की बहुलता है।

आगे चल कर हम देखते हैं कि इसी ढंग के पदों से 'विनय-पत्रिका' भरी पड़ी हैं। 'श्रीराम-स्तुति' के आगे पूर्ण 'विनय-पत्रिका' ही राम की स्तुति है। प्रारम्भ के पदों में तो केवल राम-प्रशंसा ही मिलती है पर अगले पदों में तो तुलसी की दैन्य भावना आदि की भी सम्यक् अभिव्यक्ति हुयी है।

[२] स्थान परिचय—

'विनय-पत्रिका' में गोस्वामी जी ने केवल दो स्थानों के विषय में ही लिखा है। प्रथम चित्रकूट और द्वितीय काशी।

इन दोनों स्थानों का नाम तो अनेक पदों में मिलता है पर इनका विशद-वर्णन स्तुति के अन्तर्गत रचित तीन पदों में ही उपलब्ध है। इन पदों के अधिक अंश में इन स्थानों के केवल माहात्म्य तथा प्रभाव का ही उल्लेख है। चित्रकूट विषयक एक पद में गोस्वामी जी कहते हैं—"राम सोच बिमोचन चित्रकूट। कलिहरन, करन कल्यान बूट॥"[१] इस पंक्ति में केवल स्थान-परिचय ही नहीं मिलता, काल-परिचय भी मिल जाता है। 'कलिहरन' पद इस बात का द्योतक है कि समय कलियुग था; हिंसा, पाप, कुकर्मों तथा असत्य का आधिपत्य जम रहा था और धर्म, अहिंसा, सत्कर्मों सत्य आदि का ह्रास हो रहा था। आगे इस पावन स्थान को इस दुर्वस्था का विनाश करने वाला बतलाते हुए गोस्वामी जी कहते हैं कि यहाँ बहती हुई मंदाकिनी में दुष्ट तथा बड़े-बड़े पापी स्नान करके अपने पाप से मुक्त हो जाते हैं। जो यहाँ निरन्तर वास करता है वह माया, काल अथवा कर्म का शिकार नहीं बनता। इस स्थान पर सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, विश्वपालक विष्णु तथा शक्तिस्वामी शिव ने

१. विनय० पद २३।

प्रपंच एवं छल को त्याग कर ही जन्म लिया था। यहाँ एक बार ही आने से भीम-युधिष्ठिर आदि पाण्डवों और महाराजा नल का सारा संताप दूर होगया था। इस स्थान में जो कामतानाथ पर्वत है वही स्वर्गीय चिंतामणि अथवा कल्प वृक्ष हैं। यह स्थान सबके लिये सुखदायक है।)

काशी-विषयक पदों में भी गोस्वामी जी 'कलियुग' का उल्लेख करते हैं और इस प्रकार इनमें भी काल-परिचय दे देते हैं। काशी के प्रभाव को बतलाते हुए वे लिखते हैं कि कि यह स्थान कामधेनु के समान है। स्वर्ग के देवता तक इसकी सेवा करते हैं। यहाँ वरुणा नदी बहती हुई शोभायमान होती है। करुणा सिंधु-विश्वनाथ का यह निवास है। यहाँ कुण्ड, तीर्थ त्रिलोचन और कर्णघंटा इसकी शोभा बढ़ाते हैं। मणिकर्णिका-तीर्थ तथा गंगा जी अति सुख देने वाली है। इस स्थान का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के हेतु तत्सम्बन्धी पद का निम्नांकित भावार्थ जानना परम आवश्यक है :—

'इस कलियुग में काशी रूपी कामधेनु की सेवा प्रेमपूर्वक जीवन-पर्यन्त करनी चाहिए। यह कामधेनु संताप, दुःख, पाप तथा रोग को दूर करने वाली है और सब प्रकार के कल्याणों की निधि है। चहु ओर जो सीमा खिंची हुई है वही धेनु के चरण हैं। स्वर्ग के देवता तक इसकी सेवा करते हैं। यहाँ पर स्थापित सारे तीर्थ-स्थान इस धेनु के अंग-प्रत्यंग हैं; अमर तथा अनन्त शिवलिंग इसके रोम हैं। इसका मध्यभाग इस धेनु के निवास की सुन्दर शाला हैं। चार फल— अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—इसके चारों थन हैं। वैदिक धर्म में प्रेम तथा विश्वास रखने वाले मनुष्य इसके बछड़े हैं। वरुणा नदी गल कँवल जैसी शोभा बढ़ा रही हैं। हाथों में, दंड लिए हुए भैरवनाथ इसके सींग हैं, पापकर्मा दुष्टजनों को यह अपने सींगों से सर्वदा डराती रहती हैं। लोलार्क, और त्रिलोचन इसके दो नेत्र हैं। कर्णघंटा नामक स्थान इसके गले का घंटा है। मणिकर्णिका तीर्थ विधुसमान सुन्दर मुख हैं और गंगा जी के प्रवाह से उत्पन्न सुख इसकी शोभा हैं। संसारी तथा स्वर्गीय सुखों से पूर्ण पंचकोसी परिक्रमा इसकी महिमा हैं। करुणासागर विश्वनाथ शंकर इस धेनु के पोषक हैं; पार्वती इसे बड़ा प्यार करती हैं। आठों सिद्धियाँ, सरस्वती इन्द्राणी इसे पूजती हैं और लक्ष्मी जैसी देवियाँ इसकी आज्ञा की बाट जोहती रहती हैं।

"नमः शिवाय" जैसा पंचाक्षरी मंत्र इस के पाँच प्राण हैं। पंचनद तीर्थ पंच गव्य के समान मन को शुद्ध करने वाला है। यहाँ संसार को विकसित करने वाले राम-नाम के 'र' तथा 'म' अक्षर इसकी चिच्छक्ति हैं। यहाँ जितने प्राणी मरते हैं, मोक्ष पा जाते हैं। संसार से विरक्त जन इसका मोक्ष रूपी पवित्र 'पय' पिया करते हैं। पुराण कहते हैं कि केशव ने शिल्प-कला के पूर्ण ज्ञान की सहायता से अपने ही हाथों से इसे बनाया था।'

इसीलिए गोस्वामीजी इस परम पावन स्थान की पर्युपासना पर बल देते हुए कहते हैं—"तुलसी बसि हरपुरी राम जपु, जो भयो चहै सुपासी"।१ इस प्रकार इन दो पुनीत स्थानों का सुव्यवस्थित तथा स्वस्थ परिचय देते हुए गोस्वामीजी ने इस बात का भी निर्देश कर दिया है कि वे इन दो स्थानों में अपने वृद्ध जीवन के अधिकांश समय में रहे भी थे।

[३] आत्मोपदेश—

मानव-वृत्ति ही कुछ ऐसी है कि मनुष्य समय-समय पर स्वयम् को प्रेरणा देता रहता है। वह कभी अपने क्लांत मन को शान्ति देने के लिए आत्मोपदेशक का धर्म अपनाता है तो कभी अपनी भावनाओं तथा विचारों को शुद्ध एवं पुनीत बनाने को अपने आराध्यदेव की उपासना करता है। अन्तर्जगत में शुभ प्रभात जगाना मानव-जीवन का प्रथम एवम् अन्तिम कर्त्तव्य हैं। इस प्रभात की अध्यात्म किरणों में ही अन्तर-कालिमा को मिटाने की शक्ति होती है। इनकी शक्ति में परोक्षसत्ता का पर्याप्त अंश व्याप्त रहता है। मनुष्य इस परोक्ष सत्ता का साक्षात्कार अपने चर्म-चक्षुओं से नहीं, ज्ञान-चक्षुओं अथवा मानस-चक्षुओं के द्वारा ही कर सकता है। इसका साक्षात्कार होते ही मनुष्य उन वस्तुओं से दूर भागता है जो अथवा अनित्य हैं, और उसका सामीप्य चाहता है जो पारलौकिक हैं, परोक्ष हैं, सत्य हैं, नित्य हैं। तुलसीदास ने भी इस शक्ति का साक्षात्कार अपने ज्ञान-चक्षुओं के द्वारा ही किया था। बाह्य-जगत के अन्धकार को चीरती हुई एक किरण उनके अन्तर में जा घुसी थी, जिसने अपने दिव्य आलोक में उनके भटके हुए मन को कल्याण का पथ

१. विनय० पद २२

दिखाया था। यही वह परोक्ष सत्ता सम्बन्धिनी 'राम-किरण' थी जिसके प्रकाश में गोस्वामी जी ने 'विनय-पत्रिका' की रचना की।

'विनय-पत्रिका', गोस्वामीजी के उपदेशात्मक, पदों से भरी पड़ी है। ये उपदेश उन्होंने किसी अन्य को नहीं वरन् अपने भ्रम-भ्रमित मन को ही दिये हैं। 'काशी स्तुति' में वे कहते हैं—"तुलसी बसि हरपुरी राम जपु, जो भयो चहै सुपासी"[१] अर्थात् हे तुलसी यदि तू सुखी होना चाहता है तो काशी में वास करके निरन्तर राम का जप कर। 'चित्रकूट स्तुति' में बाबाजी अपने चित्त को चेतावनी देते हुए कहते हैं—'अब चित, चेति चित्रकूटहि चलु'[२] उनका चित्त कलि की क्रूरता से तो व्याकुल था ही परन्तु उनमें सबसे प्रबल इच्छा थी आत्म-प्रक्षालन की जो कि बारम्बार उन्हें अपने मन को समझाने को प्रेरित करती थी। इस आत्मोपदेश में तुलसीदास बड़े ही निपुण उपदेशक के रूप में दिखायी पड़ते हैं। यदि कहीं मन को धिक्कारते हुए दृष्टिगोचर होते हैं और कहीं उसे थपथपाकर बड़ी सरलता से समझाते हुए मिलते हैं। अपने मन को, शरीर का सर्वोच्च लाभ, को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

मन, इतनोई या तनु को परम फलु।
सब अङ्ग सुभग बिन्दुमाधव-छबि, तजि सुभाव, अवलोक एक पलु ॥३

अर्थात् अरे मन! सुन इस शरीर का सर्वोच्च लाभ यही है कि नख-शिख सुन्दर अङ्ग वाले श्री बिन्दुमाधव जी की छवि एक क्षण के लिए अपने चंचल-स्वभाव को त्याग कर देख ले।

राम-नाम रटने और जपने का उपदेश गोस्वामी जी ने अनेकानेक पदों में अपने मन को तो दिया ही है पर साथ ही अपनी जिह्वा को भी इसी नाम को सर्वदा जपते रहने के लिए भी उपदेश दिया है। निम्न पंक्तियों में किस उत्साहपूर्ण वाणी में जिह्वा, मन तथा जीव को राम-नाम जपने का उपदेश दिया गया है, देखिए :—

१. राम राम रटु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा।
राम नाम-नवनेह-मेह को, मन! हठि होहि पपीहा ॥४

१. विनय० पद २२. २. वही, पद २४.
३. वही, पद ६३. ४. वही, पद ६५.

२. राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे ।१
३. राम-नाम जपु जिय सदा सानुराग रे ।२
४. राम-राम राम जीह जौलौ तू न जापिहै ।
तौलौं तू कहूँ ही जाय तिहूँ ताप तापिहै ।।३

यदि इन चार उद्धरणों पर ध्यान दिया जावे तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक में बाबाजी का यही कहना है कि राम का नाम जपने से ही सुख प्राप्त होसकता है। प्रथम उदाहरण में तो मन से पपीहा ही बन जाने को कहा है। कहते हैं—हे मन, तू भी राम-नाम के प्रति प्रेम रूपी मेघ के लिए, जैसे बने तैसे, हठपूर्वक, पपीहा बन जा। 'हठि' शब्द से अनन्योपासना की स्वस्थ अभिव्यक्ति होती है। चतुर्थ उदाहरण में मन को एक धमकी सी दी गयी है। साफ ऐलान सा कर दिया गया है कि जीव, जब तक तू राम का नाम नहीं जपेगा, तू कहीं भी चला जा तीनों तापों (भौतिक, दैहिक तथा दैविक) से जलता रहेगा। इस पूर्ण पद को पढ़ने के पश्चात् ऐसा जान पड़ता है मानों जीव को अन्य कहीं आराम मिल ही नहीं सकता। एक विचित्र भय उठ खड़ा होता है। बाबाजी डंका बजाकर कहते हैं कि हे जीव बिना राम-राम के जपे हुए यदि तू कल्पवृक्ष के नीचे भी जा बसेगा तब भी तुझे दरिद्रता सताती रहेगी। जागते-सोते, हर दशा में पीड़ित रहेगा। तू जन्म-जन्म और युग-युग रोता ही रहेगा। यदि अमृतपूर्ण भोजन भी करेगा तो वह विषपूर्ण हो जावेगा। और अन्त में स्वयं से कहते हैं—

तुलसी तिलोक, तिहूँ काल तोसे दीन को।
राम-नाम ही की गति जैसे जल मीन को ।।४

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीदास स्वयं को उपदेश देते हुए भी समस्त संसार को उपदेश देते हैं। तुलसी के आत्मतत्व में लोकत्व आँख-मिचौनी खेलता है। वे 'स्वयं' होते हुए भी 'अन्य' हैं। उनके प्रत्येक शब्द से उपदेशक की आत्मा निखरी सी प्रतीत होती है। उपदेश का एक पक्ष तो

(१) विनय० पद ६६ (२) वही पद ६७, (३) वही पद ६८
(४) वही पद ६८,

कोरी साधुता से भरा हुआ है और दूसरा पक्ष आत्म-निरीक्षण और आत्म-प्रदर्शन से ओत-प्रोत है। दूसरे पक्ष के अन्तर्गत कहे हुए शब्दों के दो-एक उदाहरण देखिए :—

१. सुमिर सनेह सों तू नाम रामराय को।
संबल निसंबल को, सखा असहाय को॥
× × ×
पतित-पावन राम-नाम सो न दूसरो।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो उसरो॥१

२. ऐसेहू साहब की सेवा सों होत चोर रे।
अपनी न बूझ, न कहे को रांड रोर रे॥
× × ×
बेचे खोटो दाम न मिलै, न राखे काम रे।
सोऊ तुलसी निवाज्यो ऐसो राजा राम रे॥२

इन दो उदाहरणों को ध्यान पूर्वक पढ़ने से ज्ञात होता है कि तुलसी लोकहृदय में छिपी भक्ति-भावना को, राम-नाम की शक्ति तथा क्षमता को प्रकाश में लाकर, उद्बुद्ध करना चाहते हैं। दोनों उदाहरणों की प्रथम दो पंक्तियों में राम-नाम का प्रभाव प्रदर्शित किया गया है, और अन्तिम दो पंक्तियों में उस प्रभाव का परिणाम। इस प्रकार अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव के परिणाम को बतलाते हुए ही तुलसी ने आत्म-निरीक्षण तथा आत्म प्रदर्शन का नाटक खेला है। प्रथमोदाहरण में तुलसी ने अपने को 'ऊसर' कहा है और 'पतित-पावन' विशेषण द्वारा 'पतित' होने का भी संकेत दे दिया है। द्वितीय उदाहरण में स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि तुलसी ऐसा खोटा मनुष्य है जिसे कि बेचने से न कुछ दाम मिलता है, और न घर में रखने से कुछ कार्य सिद्ध होता है। पर महाराज रामचन्द्र जी ऐसे दयालु हैं कि ऐसे तुलसी को भी निहाल कर दिया।

(१) विनय० पद ६६ (२) वही, पद ७१

(४) संसार की असारता

अनेक विचारकों ने संसार की असारता का निदर्शन अपने अपने-मतानुसार किया है। ऐसा करने में वे किसी न किसी 'वाद' के भँवर में अवश्य फँस गए हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने बड़े ही सीधे ढंग से अपने विचार का प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ कबीर को ही ले लीजिए। वे कहते हैं :—

(क) पानी केरा बुदबुदा इसी हमारी जाति।
एक दिनाँ छिप जाँहिगे, तारे ज्यूँ परभाति॥
(ख) कबिरा इह जग नाहिं कछु, पिन खारा पिन मींठ।
काल्हि जु बैठा माड़ियाँ, आज मसाणा दीठ॥१

इन दोहों को पढ़ने के पश्चात् यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ये संसार की नश्वरता की ओर संकेत ही नहीं वरन् उसकी पूर्ण पुष्टि भी करते हैं। जो मानव की जाति अथवा गुण है वही संसार की है क्योंकि संसार अन्ततः है क्या! मानव के मस्तिष्क का खिलौना। मानव कभी ससार का और कभी संसार मानव का खिलौना बना जान पड़ता है। इस खिलवाड़ से परे जब उसकी दृष्टि सूक्ष्म की ओर जाती है तब उसे ज्ञात होता है कि संसार क्या है। उस समय उसे गीता में स्वयं श्रीमुख से कहे हुए ये शब्द याद आते हैं :—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥२

अर्थात्, सर्वधर्मों का (सम्पूर्ण कर्मों के आश्रय) त्याग कर केवल मुझ सच्चिदानन्द घन वासुदेव परमात्मा की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो; मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा।

गोस्वामी जी में जब इस ज्ञान का उदय हुआ तो वे भी समझ गए कि यह भ्रम तथा अविद्या का आधिक्य ही है कि ससार को लोलुपता में फँसे हुए हम राम का नाम भूल जाते हैं। परन्तु साथ ही साथ वे सन्देह भी करते

(१) साखी (काल कौ अंग १४, १५) (२) गीता, अध्याय १८ श्लोक ६६,

रहते हैं कि जो कुछ वे कह रहे हैं वह असत्य तो नहीं है ? कारण यह है कि वे संसार को देखते भी हैं, सुनते भी हैं और बोलते भी हैं। वे बड़े असमंजस में पड़ जाते हैं। यथा—

"कहि न जाय मृग बारि सत्य, भ्रमते दुख होइ बिसेखे"[१]

अर्थात् मृग-जाल सत्य नहीं कहा जा सकता परन्तु जब तक भ्रम है तब तक उसको सत्य मानकर दुख उठाना ही पड़ता है। तद्वत संसार वास्तव में सारहीन ही है परन्तु भ्रम के कारण सत्य मान लिया जाता है। एक पद में गोस्वामी जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"तुलसिदास सब बिधि प्रपंच जग"[२] और इस प्रकार अपना मत स्पष्ट कर दिया है।

ससार में मनुष्य पारस्परिक सम्बन्धों द्वारा ऐसा जकड़ा रहता है कि उसका मुक्त होना असम्भव सा ही ज्ञात होता है। परन्तु उसे यह पता नहीं कि यह अज्ञान के अन्धकार में क्षण भर के लिए चमक जाने वाली चपला के समान है और इस अज्ञान द्वारा अनुभूत रमणीयता क्षणिक तथा नश्वर है। इस रमणीयता का अ तर्जत से कोई सम्बन्ध नहीं। यह केवल कुछ वाह्याकर्षणों का ही फल है; इसका आत्मा से किसी प्रकार का लगाव नहीं। अतः बाजाजी पुकार-पुकार कर कहते हैं :—

जागु जागु जीव जड़ ! जोहे जग-जामिनी।
देह-गेह-नेह- जानि जैसे घन-दामिनी ॥३

अर्थात् हे मूर्ख जीव, अब भी जाग जा और इस संसार-रूपी रात्रि को परख ले। सांसारिक मोहों से तू कितने दिनों से बँधा हुआ है, अब भी इन्हें त्याग कर संसार की असारता को देख ले। शरीर तथा गृह के मोह को बादलों में चमक जाने वाली चपला के समान समझ। यह मोह इतना ही आकर्षक और इतना ही क्षणभंगुर है जितनी कि चपला।

गोस्वामी जी के इन शब्दों में यह घोषणा स्पष्ट सुनाई पड़ रही है कि यह संसार नश्वर है तथा इसके सब मोह क्षणिक हैं। वे इस भाव का प्रतिपादन विनय-पत्रिका के अनेक पदों में करते हैं। उनके लिए एक दिन संसार

(१) विनय० पद १२१, (२) वही, पद १२१, (३) वही, पद ७३,

बड़ा प्रिय था- बड़ा आकर्षक था; परन्तु एक दिन वह भी आया जब कि उन्होंने इसकी असारता को समझा और अपनी लेखनी द्वारा "देह-गेह-नेह जानि जैसे घन दामिनी"१ लिखकर, इसे क्षणिक सिद्ध किया। गोस्वामीजी के विचारों के सादृश्य में श्री शंकराचार्य के निम्नलिखित चार श्लोक कितने संगत हैं :—

"माता नास्ति पिता नास्ति, नास्ति बंधुः सहोदरः।
अर्थन्नास्ति, गृहन्नास्ति, तस्माद् जाग्रत, जाग्रत ॥ १ ॥
आशया बद्धयते लोको कर्मणा बहुचिन्तया।
आयुः क्षीणं त जानासि तस्माद् जाग्रत, जाग्रत ॥ २ ॥
कामः क्रोधश्च लोभश्च देहे तिष्ठन्ति तस्कराः।
ज्ञान-रत्नापहारगय तस्माद् जाग्रत, जाग्रत ॥ ३ ॥
जन्म दुःखं, जरा दुःखं, जाया दुःखं पुनः पुनः।
संसार-सागरं दुःखं, तस्माद् जाग्रत, जाग्रत ॥ ४ ॥

(५) आत्म-ग्लानि—

'विनय पत्रिका' में तुलसीदास की आत्म-ग्लानि का जितना भावपूर्ण निरूपण हुआ है उतना अन्यत्र नहीं। 'विनय-पत्रिका' वास्तव में गोस्वामीजी आत्म-ग्लानि का ही एक मुखर चित्र है। सत्य भी है, जब तक भक्त अपनी लघुता का अनुभव नहीं करता तब तक उसकी हृदय-वीणा के तारों में झंकार होती ही नहीं। इस प्रेम-वीणा के ढीले तारों को कस कर ध्वनित करने का एकमात्र साधन आत्मग्लानि ही है। आत्मग्लानि की अनवरत भावना के शिशु का नाम ही आत्मबोध है। आत्मग्लानि तथा आत्मबोध अन्योन्याश्रित हैं; एक दूसरे के जन्म-दाता हैं। 'विनय-पत्रिका' इस भावना का अक्षय्य भाण्डार है।

गोस्वामी जी अपने 'राम' को इस बात के लिए किसी प्रकार दोषी नहीं ठहरा सकते कि उन्होंने इनकी कोई सुधि नहीं ली। वे अपने को ही निर्लज्ज तथा 'कामलोलुप' विशेषणों से अभिहित कर सकते हैं। और सब से बड़ी बात

१. विनय० पद ७३

तो यह है कि वे इसी के बल पर मोक्ष चाहते हैं। देखिए :—

कैसे देउं नाथहि खोरि ?
काम-लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि ॥
× × ×
एतहुँ पै तुम्हरो कहाबत लाज अँचई घोरि।
निलजता पर रीझि रघुबर देहु तुलसिहि छोरि ॥ १

इसी प्रकार एक अन्य पद में तुलसीदास कहते हैं—"है प्रभु मेरोई सब दोसु" ।२ इस के अतिरिक्त इस आत्म-ग्लानि-वर्ग के अन्तर्गत एक भावना और मिलती है। वह है आत्मलघुता की भावना। स्वयं को तुलसी ने सर्वथा दीन तथा पतित बतलाया है और अपने 'राम' को सर्वोच्च तथा सर्वोत्तम। एक पद में बड़े ही सुन्दर ढंग से उन्होंने अपने को पतित घोषित किया है। देखिए—

मैं हरि पतित पावन सुने।
मैं पतित, तुम पतित पावन, दोउ बानक बने ॥३

इन दो पंक्तियों में गोस्वामी जी की वाक् पटुता का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण मिलता है। कितनी सरलता पूर्वक कहते हैं कि मैंने भगवान राम को पतितों का उबारने वाला सुना है और ऐसा होने से दोनों का काम बन गया। मैं पतित हूँ और तुम पतित-पावन हो। इस बात को इस ढंग से कहने में बड़ा सार है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से 'मैं हरि पतित पावन सुने' ४ को देखें तो स्पष्ट हो जावेगा कि इस कथन में दो विचार निहित हैं। प्रथम यह कि राम किसी विशेष व्यक्ति के हितकारी नहीं वरन् सर्वसाधारण के लिए हैं। द्वितीय यह कि राम 'पतितपावन' किसी विशेष काल के लिए नहीं वरन् सर्वकाल के लिए हैं। यह अर्थ तभी निकल सकता था जबकि तुलसी के लिए ही वे विशेषतः 'पतित पावन' न होते और तुलसी ऐसा सुनते। इसी भांति दो एक भाव और देखिए :—

---

१. विनय० पद १५८ २. वही पद १५६ ३. वही पद १६०
४, विनय पद १६०

राम सो बड़ो है कौन, मोसौ कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन, मोसौ कौन खोटो ॥१
तू दयाल, दीन हौं, तू दानि, हौ भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंज हारी ॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो ॥२

आत्म-ग्लानि के अन्तर्गत ही तृतीय भावना है 'दैन्य' की। इस दैन्य भाव के सहारे ही तुलसी ने अपने को 'राम' के चरणों पर डाल दिया और गिड़गिड़ा-गिड़गिड़ा कर उबारने की विनती की है। यदि भक्त में इस भाव का उदय न हुआ तो वह न तो कभी भक्ति-परायण हो सकता और न अपने आलम्बन की अनुकम्पा का पात्र ही बन सकता है। यही एक भावना ऐसी थी कि जिसने गोस्वामीजी की 'विनयपत्रिका' को भगवान राम की स्वीकृति दिलवायी। स्वयं को ही धिक्कारते हुए तुलसी कहते हैं—'लाज न आवत दास कहावत'।३ अपने को इतना तुच्छ समझने के पश्चात् ही दैन्य-भाव का उदय होता है।

दैन्य-भाव के प्रादुर्भाव और अपने आराध्य की शक्ति व शील तथा अपने लघुत्व की अनुभूति के साथ ही साथ भक्त में परोक्ष के प्रति निष्ठा और उसके सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति जाग उठती है। वह स्वयं को निराश्रय समझ कर उसके चरणों में जा गिरता है। याचना करता है, विनती करता है और जब तब हठ भी कर बैठता है। अन्ततोगत्वा वह चाहता है केवल अपनी भक्ति के आलम्बन से शरण देने और कल्याण करने का वचन। तुलसीदास में भक्त का यह रूप अनुपमेय है। अपने को पूर्णतः राम के चरणों के आसरे ही छोड़कर वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि संसार में उनका कोई दूसरा सहारा है ही नहीं—

जो पै दूसरो कोउ होइ।
तो हौं बारहि बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ ?४

१. वही, पद ७२ २. वही, पद ७६ ३. वही, पद १८५
४. वही, पद २१७

बस इस भाव के आते ही तुलसी मस्तक नवा कर, हाथ जोड़कर अपने प्रभु के समक्ष खड़े हो जाते हैं—"माथ नाइ, नाथ सौं कहों, हाथ जोरि खर्‌यो हौं"१ अपने दीन भाव का पूर्ण प्रदर्शन करते हुए कहते हैं—"द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद, परि पाहूँ" !२ अब वे सब प्रकार राम की ही शरण में पड़े हुए हैं। उनके लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। यथा—"जाऊँ कहाँ, ठौर है कहाँ देव ! दुखित दीन को ?"३ इतना कहने के पश्चात् उनका साहस कुछ और बढ़ता है और उनके द्वार पर ही अड़ कर पड़ जाते हैं। यह तो वह कह ही चुके हैं कि राम के नाम के प्रताप से ही वे जैसे-तैसे माँग-जाँच कर अपना पेट भर लेते हैं, अब हट करके राम के द्वार पर अड़ जाते हैं और कहते हैं—

'तू मेरो' यह बिन कहे उठिहों न जनम भरि, प्रभु की सौं करि
निबर्‌यो हौं ॥४

इस समय उन्हें चाहे जमघट ही धक्का क्यों न देते रहें, वे अपने स्थान से नहीं टलेंगे; क्योंकि उनका प्रण है—

"हौं मचला लै छाड़िहौं, जेहि लागि अर्‌यो हौं"५

यह मचला है 'राम का उन्हें अपनाने का वचन'। इसी प्रकार अनेक पदों में अपने दैन्य-भाव का प्रदर्शन करते हुए बाबाजी ने 'विनयं' की 'पत्रिका' भगवान राम के दरबार में पहुँचा दी।

(६) आत्माभिव्यक्ति

काव्य कवि की मनोवृतियों, अभिरुचियों तथा मनोभावों का दर्पण होता है। कवि का परिचय उसके काव्य में पूर्ण, स्वच्छ एवं मूल रूप में मिलता है। 'विनय-पत्रिका' में भी तुलसीदास का पूरा परिचय मिल जाता है। अपने जन्म के विषय में इन्होंने 'विनय-पत्रिका' में कुछ नहीं लिखा है। परन्तु फिर भी जो कुछ उपलब्ध है उसके आधार पर हम उनके जीवन को बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था में विभाजित कर सकते हैं। अपनी बाल्यावस्था के विषय में वे लिखते हैं—जननि जनक तज्यौ जनमि, करम

१. विनय० पद २६६ २. वही, पद २७५ ३. वही, पद २७४
४. वही, पद २६७ ५. वही, पद २६७

बिनु विधिहूँ सृज्यो अवडेरे" ।१ इससे ज्ञात होता है कि बालपन में ही ये अपने माता-पिता से बिछुड़ कर अनाथ हो गए थे। इसकी पुष्टि के लिए "तनु जन्यौ कुटिल कीट ज्यों तज्यौ मातु-पिता हूँ"२ ले सकते हैं। इसके पश्चात् गोस्वामी जी ने अपनी बाल्यावस्था की उस दशा को भी व्यक्त किया है जब कि वे अनाथावस्था में द्वार-द्वार अपनी दीनावस्था का प्रदर्शन करते-फिरते थे—"द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।"३ अपने नाम के विषय में बतलाते हुए वे लिखते हैं—

राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम,
काम यहै, नाम द्वै हौं कबहुँ कहत हौं४

युवावस्था के विषय में बतलाते हुए सर्वप्रथम जाति और कुल की ओर संकेत किया गया है—"दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।"५ इस पंक्ति से ज्ञात होता है कि वे सनाढ्य ब्राह्मण थे जिसका कि एक गोत्र शुक्ल होता है। अपने गुरु के विषय में भी वे चुप नहीं रहे। लिखते हैं—"गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राजडगरो सो।"६ इस पंक्ति से यह भी विदित होता है कि अपनी बाल्यावस्था में वे अपने गुरु के पास ही रहे थे जिन्होंने उन्हें रामभजन का उपदेश दिया था। इसी जीवनांग के अन्तर्गत उन्होंने गृहस्थ-जीवन के विषय में भी कुछ लिखा है। इसमें सबसे पहली बात है उनके विवाह के सम्बन्ध में। यथा—"मेरे ब्याह न बरेखी जाति पाति न चहत हौं।"७ इस पंक्ति से यह आशय न निकाल लेना चाहिए कि तुलसीदास अविवाहित थे। इससे यह अर्थ निकलता है कि उनके कोई सन्तान न थी जिससे कि उनके यहाँ ब्याह या बरेखी होती। इसके अतिरिक्त अपनी बाल्यावस्था के विषय में बतलाते हुए वे अपनी युवावस्था का चित्र खींचते हैं :—

"लरिकाई बीती अचेत चित चंचलता चौगुनी चाय।
जोबन-जुर जुबती कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरि मदन बाय।८

---

१. विनय० पद २२७ २. वही, पद २७५ ३. वही, पद २७५
४. वही, ७६, ५. वही, पद १५ (१) ६. वही, पद १७३
७. वही, पद ७६ ८. विनय० पद ८३

बाल्यावस्था, यौवनावस्था और वृद्धावस्था, तीनों अवस्थाओं का निर्देश तुलसी की विनयपत्रिका में मिलता है। उक्त उद्धरण केवल बाल्यावस्था एवं यौवनावस्था का ही चित्र प्रस्तुत करता है। एक अन्य पद की दो पंक्तियाँ इन्हीं तीनों अवस्थाओं का बोध कराती हैं और साथ ही साथ उक्त कथन की पुष्टि भी करती हैं। यथा—

खेलत-खात लरिकपन गो चलि, जौबन जुवतिन लियो जीत।
रोग-वियोग-सोग-स्रम-संकुल, बड़ि बय बृथहि अतीति ॥१

इन पंक्तियों में वृद्धावस्था के विषय में जो कुछ कहा गया है उसकी पुष्टि विनय के अन्य पदों से भी होती है। एक स्थान पर गोस्वामीजी लिखते हैं कि बृद्धावस्था के आने पर अनेकों रोगों ने उन्हें सताना शुरू कर दिया, शरीर जर्जर हो गया और सिर काँपने लगा। यथा—

सो प्रगट तनु जरजर जराबस, ब्याधि सूल सतावई।
सिरकंप, इन्द्रियसक्ति, प्रतिहत, बचन काहु न भावई ॥२

पर्यटन के सम्बन्ध में केवल इतना ज्ञात होता है कि वृद्धावस्था में गोस्वामी जी पर्यटन करते रहे थे। "अब चित चेतु चित्रकूटहि चलु"३ से स्पष्ट हो जाता है कि ये चित्रकूट गए थे। गोस्वामी जी की चित्रकूट-यात्रा के सम्बन्ध में अधिक पुष्ट प्रमाण विनयपत्रिका की वह पंक्ति है जिसके अनुसार वे कलि की कुचालों को देखकर चित्रकूट चले गए थे यथा—"चित्रकूट गये हौं लखी कलि की कुचाल सब"४ इसके अतिरिक्त 'रटत रटत लट्यौ, जाति पाँति भाँति घट्यो"५ कथन यह स्पष्ट रूप से घोषित करता है कि 'विनय-पत्रिका' गोस्वामी जी की वृद्धावस्था की रचना है। गोस्वामी जी ने अपनी वृद्धावस्था के संकेतार्थ 'विनय-पत्रिका' के एक पद में लिखा है :—

"तुलसिदास अपनाइए कीजै न ढील अब जीवन अवधि अति नेरे ।६

'संकेतार्थ' लिखने से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि उनका पाठकों को,

---

१. वही, पद २३४ २. वही, पद १३६ (८) ३. वही, पद २४
४. वही पद २६६ ५. वही, पद २६० ६. विनय० पद २७३

अपनी वृद्धावस्था के विषय में बतलाना कोई लक्ष्य था अथवा भविष्य में 'विनय-पत्रिका' के आलोचकों को अपनी आयु एवं परिस्थितियों से अवगत कराना कोई उद्देश्य था। अपनी वृद्धावस्था का बोध तो उन्होंने ईश्वर से अविलम्ब स्वीकृति मिल जाये, केवल इसी लिए किया था।

इस प्रकार गोस्वामी जी के जीवन की तीनों अवस्थाओं का परिचय पाठकों को प्राप्त हो जाता है। अपने रचयिता के तीनों पनों का बोध कराना 'विनय-पत्रिका' के गुणों में से एक विशेषगुण है।

(७) राम-नाम-माहात्म्य*

गोस्वामी तुलसीदास राम-नाम को सर्वोपरि मानते हैं। कलियुग में केवल राम-नाम ही कल्याण रूपी फलों से लदा हुआ कल्पवृक्ष है। गोस्वामी जी को राम-नाम के अतिरिक्त और किसी से कल्याण का भरोसा नहीं है। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति होने के कारण उन्हें 'राम' से भी अधिक निष्ठा, रामनाम में है।२ उन्हें न तो छः शास्त्रों के सिद्धान्त उपयुक्त लगते हैं और न पुराणों के मत अनुसरणीय। उनके लिए कलिकाल में राम-नाम-स्मरण ही कल्याण लाभ का सर्वप्रधान साधन है।३ बाबाजी को पूर्ण निश्चय है कि उनकी भलाई के हेतु विधाता ने राम-नाम के अतिरिक्त अन्य किसी 'गति' का विधान ही नहीं किया है।४ यही नहीं राम-नाम ही उनके लिए गुरु, देवता, स्वामी, मित्र और बल है।५जिस प्रकार गोस्वामी जो 'राम' से कहते हैं—'सखानु सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु, आप माय-बाप तुही साँचो तुलसी कहत'६ तद्वत वे राम-नाम को माँ-बाप, मित्र, हितू, सम्बन्धी, गुरु आदि से भी अधिक महिमाशाली और पूज्य मानते हैं। यथा—

नाम सो न मातु-पितु, मीत, हित, बंधु, गुरु
साहिब सुधी सुसील-सुधाकरु है।७

---

२. वही, पद २२८ ३. वही, पद २५१ ४. वही, पद २५२ ५. वही, पद २२० ६. वही, पद २५६ ७. वही, पद २५५

*डा० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (पृ० ४१६) में केवल छः प्रकार के पदो को ही गिनाया है। इस सातवें की ओर उनका ध्यान तक नहीं गया है।

यों तो पूर्ण 'पत्रिका' ही राम की महिमा व राम के शील, सहानुभूति प्रभृति गुणों से भरी पड़ी है; परन्तु राम-नाम की महिमा का विशेष निर्देश कुछ गिने-चुने पदों में ही हुआ है। इस माहात्म्य-निर्देश से युक्त महत्वपूर्ण पद केवल तीस-चालीस ही हैं। इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय ये हैं—६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, १५५, १५६, १८४, २२०, २२५, २२६, २२७, २२८, २४७, २५०, २५१, २५२, २५४, २५५ इन सभी पदों में राम-नाम को अति प्रभावशाली, अमित सौन्दर्यशाली, शक्तिशाली, कल्याणकारी, प्रतापवान, मोक्षप्रद, आश्रयदाता, सुलभ, सुखद आदि बतलाया गया है।

गोस्वामी जी 'विस्वास एक राम-नाम को'[1] कहते हुए अपनी अनन्य-निष्ठा का निदर्शन करते हैं और अनेकों स्थलों पर जीव को सम्बोधित करते हुए 'राम-नाम' के माहात्म्य का विशाल रूप प्रस्तुत करते हैं। तुलसी के अनुसार राम की महिमा वही है जिसे 'केदारखंड' में शिवजी ने अनेक स्थलों में गायी है। यथा—'रामनामसम तत्वं नास्ति वेदान्त गोचरम।' कलि के क्रूर आघातों से मुक्त होने का एकमात्र, साधन राम-नाम ही है जो कि गीता के अनन्य निष्ठा-मार्ग का अनुरूप है—'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां, योगक्षेमं वहाम्यहम्।'[2] इसी मार्ग का अनुयायी होने के नाते गोस्वामी जी ने विनयपदों में अनेक स्थलों पर केवल राम-नाम की ही शरण में जाने, रामनाम में ही ध्यान लगाने रामनाम का ही प्रेमी और उसी का अनन्य भक्त बनने का उपदेश दिया है। दो-एक उदाहरण देखिए—

१. राम-नाम-गति, राम नाम-मति रामनाम अनुरागी।
हुवै गए है, जे होहिगे, त्रिभुवन् तेइ गनियत बड़भागी॥३

२. मति रामनाम ही सों, रति रामनाम ही सों,
गति रामनाम ही की बिपति हरनि।४

तुलसी यह निश्चयपूर्वक जानते हैं कि राम-नाम की ऐसी अनन्यनिष्ठा से ही इस कलिकाल में कोई साधन सफल हो सकता है; वैराग्य, योग, यज्ञ, तप

१. विनय० पद १५५ २. गीता; अध्याय ९ श्लोक २२ ३. वही, पद ६५, ४. वही, पद १८४

वा दान एकांगी होकर नहीं सध सकते।१ इसीलिए वे राम-नाम को ही अपने जीवन का एकमात्र आधार बना कर चलते हैं। यथा—

'रामनाम तुलसी को जीवन-अधार रे २

वे अपने जीव का राम-नाम से वही सम्बन्ध स्थापित करते हैं जो जल से मीन का होता है।३ गोस्वामीजी को रामनाम में इतनी प्रतीति व निष्ठा है कि वे इसे निसंबल-असहाय का सखा, अभागे का भाग्य, निर्धनों और दीनों के लिए दान, लँगड़े-लूलों के लिए हाथ-पाँव, अन्धों की आंखें, भूखे कंगालों का माँ-बाप तथा पतितों के लिए उद्धार रूप मानते हैं। यही नहीं वे आत्मसाक्ष से युक्त प्रमाण देते हुए कहते हैं कि 'तुलसी के समान ऊसर भी, उसके स्मरण से, सुन्दर उपजाऊ भूमि बन गया' अर्थात् उसके हृदय में पहले धर्म-कर्म का लेशमात्र भी न था, पर रामनाम के प्रभाव से उसमें ज्ञान व भक्ति का पूर्ण उदय हो गया। यथा—

सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो।४

गोस्वामी जी ने राम-नाम को कल्पतरु माना है और इसे उस फल शक्ति का देने वाला कहा है जो कि कलि के प्रत्येक सन्ताप को दूर करने वाली है। कलिकाल के लिए राम-नाम वही है जो जूड़ी बुखार के लिए आग। इसे देखते ही कलि दूर भाग जावेगा।५ परन्तु जीव के लिए कलि से रक्षा व आत्मतोष का साधन केवल कल्पवृक्ष के समान एक राम-नाम ही है जिससे मुँहमाँगी वस्तु मिल सकती है। रामनाम का यह कल्पवृक्ष अथवा सुरतरु-रूप निम्न प्रकार विभिन्न शब्दों में प्रस्तुत किया गया है—

(अ) आत्मतोष रूप :—

१. नाम रति-कामधेनु तुलसी को काम तरु ६
२. मोको भलो रामनाम, सुरतरु सो रामप्रसाद कृपालु कृपाके ७
३. कलि नाम कामतरु राम को ८

---

१. विनय० पद ६७ २. वही, पद ६७ ३. वही, पद ६८
४. वही, पद ६६ ५. वही, पद ७० ६. वही, पद २४७
७. वही, पद २२५ ८. वही, पद १५६

४. बैठे नाम-कामतरु-तर डर कौन घोर घन घाम को १
५. रामनाम कामतरु जोइ जोइ माँगि है २
तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै
६. रामनाम कामतरु देत फल चारि को ३
७. राम ! रावरो नाम साधु-सुरतरु है। ४

(ब) कलि-भय विदारक रूप :—

१. एक ही साधन सब रिद्धि सिद्धि साधि रे।
ग्रसे कलि-रोग जोग संजम समाधि रे ॥५
२. कलि न विराग, जोग जाग, तप, त्याग रे।
राम सुमिरन सब विधि ही को राज रे ॥६
३. रामनाम को प्रभाव जानि जूड़ी आगि है।
सहित सहाइ, कलिकाल भीरु भागि है ॥७
४. रामनाम के जपे जाइ जिय की जरनि।
कलिकाल अपार उपाय ते अपाय भए,
जैसे तम नासिबे को चित्र के तरनि ।८
५. मो को तो राम कलपतरु कलि कल्यान फरो ९
६. रामनाम सों रहनि, रामनाम की कहनि
कुटिल-कलि-मल-सोक-संकट-सरनि । १०

तुलसी 'राम-नाम' को 'राम' से भी अधिक प्रतिभासम्पन्न, प्रभावशाली व मोक्षप्रद मानते हैं। उन्हें विश्वास है कि रामनाम को आत्मसात कर लेने से कलि की कुचालों का कुप्रभाव कुण्ठित हो जाता है। अतः राम-नाम को जीवन का आधार मान कर, उसी को इस अन्धकूप-समान संसार में माँ-बाप, सखा, भाई-बहन समझ कर रहना श्रेयस्कर है। इस प्रतिभास जगत् में तुलसी का धन, स्वजन, स्नेही जो कुछ है केवल राम नाम ही है। यथा—

१ विनय०पद १५५ २. वही, पद ७० ३. वही, पद ६७ ४. वही, पद २५५ ५. वही, पद ६६ ६. वही, पद ६७ ७. वही, पद ७० ८. वही, पद १८४ ९. वही, पद २२६ १०. वही, पद २४७

में 'जगन्मिथ्या' कथन का कैसा सफल द्योतन हुआ है :—

जागु जागु जीव जड़ जोहैं जग-जामिनी।
देह-गेह-नेह जानु जैसे घन-दामिनी॥
सोवत सपने सहै संसृति संताप रे।
बूड़ो मृगवारि, खायो जेवरी को सांप रे॥१

इस प्रकार मृग-जल, अथवा रज्जु-सर्प कह कर उन्होंने जगत को भ्रमरूप ही बतलाया है। परन्तु गोस्वामी जी के मायावाद के प्रयोजन में एक विशेषता है। उनके अनुसार जगत मिथ्या है क्योंकि वह 'हरि शून्य है' पर जब वह 'हरिमय' है तब सत्य का रूप है। इसीलिए इसी पद के अन्त में वे लिखते हैं—

तुलसी जागे तें जाइ ताप तिहुं ताय, रे।
राम नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे॥२

इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन 'रामचरित मानस' के बालकाण्ड में मिलता है :—

झूठहु सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥३

यहाँ पं० रामचन्द्र शुक्ल का विचार उल्लेखनीय है—"परमार्थ दृष्टि से, शुद्ध ज्ञान दृष्टि से, तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, परन्तु भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं"४ इससे ज्ञात होता है कि तुलसी जगत को मिथ्या मानते तो हैं परन्तु सिद्धान्त-रूप से नहीं।

वास्तव में तुलसी के दो ग्रन्थों में ही उनके दार्शनिक मत का स्पष्टीकरण हुआ है। एक है 'मानस' और दूसरा है 'विनयपत्रिका'। 'मानस' में उन्होंने अपने माया-सम्बन्धी विचारों को विशद रूप दिया है। इस दुर्बोध तत्त्व का निर्देशन, लक्ष्मण की जिज्ञासा-तृप्ति के हेतु, राम के उपदेश में कैसा सुन्दर हुआ है—

१. विनय० पद ७३। २. वही, पद ७३।
३. मानस० बाल०। ४. 'तुलसी ग्रन्थावली' तृ० खण्ड पृ० २१३

मैं अरु मोर तोर मैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई ॥
तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ ॥
एक दुष्ट अति सब दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा ॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके ॥१

अर्थात् 'मैं' और 'मेरा', 'तू' और 'तेरा' ही इस संसार में रहने वाले जीवों में अज्ञान तथा विरोध का मूल कारण है। गोस्वामी जी के विचार से सकल गोचर जगत ही भ्रमोत्पादक माया है। माया के दो भेद किए गए हैं विद्या तथा अविद्या। सीता जी को गोस्वामी जी ने विद्या का रूप माना है जो निम्नांकित पंक्तियों में स्पष्ट है :—

स्तुति-सेतु-पालक राम तुम्ह जगदीश माया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपा निधान की ॥२

यही भाव निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए :—

जासु अंस उपजहि गुन खानी। अगनित लखिय उमा ब्रह्मानी।
भृकुटि विलास जासु लय होई। राम-बाम दिसि सीता सोई ॥३

गोस्वामी जी के अनुसार त्रिवेदों की गणनारहित शक्तियों का प्रादुर्भाव सीता जी से ही हुआ है। इस कथन की पुष्टि 'मानस' में मंगलाचरण के एक श्लोक से हो जाती है :—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणी क्लेशहरिणीम्।
सर्वश्रेयस्कारी सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥४

और यही कारण है कि गोस्वामी जी भगवान का सामीप्य प्राप्त करने के हेतु इसी विद्या-शक्ति, भगवान राम के चरण-कमलों में अनुरक्त, सीताजी से सहायतार्थ विनती करते हैं :—

कबहुँक अंब अवसर पाइ।
मेरिअौ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ ॥

---

१. मानस० अरण्य० १५। २. वही, अयोध्या० १२५।
३. वही, बाल० १४८। ४. वही, बाल० १

× ×

जानकी जग जननि जनकी किए वचन-सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव-नाथ-गुनगन गाइ ॥१

'मानस' में तनिक अन्वेषण-वृत्ति से प्रवेश किया जाय तो तुलसी के दार्शनिक-सिद्धान्त के अनेकानेक तत्त्वों का पूर्ण परिचय प्राप्त हो सकता है। कुछ तत्त्व तो स्पष्ट रूप से व्यक्त हुए हैं, जैसे संसार-सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु में राम की जीव-रूप में व्याप्ति :—

(अ) 'जड़ चेतन जग जीव जन सकल राममय जानि।'२

(ब) 'सीय-राम मय सब जग जानी'।३

द्वितीय, इस राम-शक्ति का इसके अनुयायियों पर प्रभाव :—

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥४

तृतीय, राम के मनुष्य रूप में अवतरित होने का कारण तथा प्रयोजन—

'माया मानुष रूपिणी रघुवरों सद्धर्मवर्मौ हितौ'।५

चतुर्थ, माया का रूप बतलाते हुए गोस्वामी जी कहते हैं कि माया तीन गुणों से युक्त त्रिगुणात्मिका है। इसके अतिरिक्त जगताविर्भाव का मूल कारण माया ही है, यही सृष्टि की रचना करती है; यही इसका पोषण करती है और यही इसका संहार करने की शक्ति रखती है। यह विचार मानस के अनेक पदों में व्यक्त हुआ है। निम्नांकित पंक्तियों में देखिए :—

गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कह नाथ सहज जड़ करनी।
तब प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रन्थहि गाए॥ ६

परन्तु यह बात कहना कि यह माया स्वसाध्य है; नितान्त अशुद्ध होगा क्योंकि बाबाजी ने अनेक स्थलों पर यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि भगवान राम ही इस माया के अधिकारी हैं और यह माया स्वयं निर्बल होने के कारण अपने अधिकारी की प्रेरणा से ही अपना कार्य कर पाती है। देखिए :—

---

१. विनय० पद ४१। २. मानस० बाल० ७। ३. वही बाल० ८।
४. वही, बाल० ११६। ५. वही, किष्किंधा १। ६. वही, सुन्दर० ५६।

१—अस जिय जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान ।१

२—एक रचइ जग गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके२

पंचम, जगत सम्बन्धी विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए गोस्वामी जी कहते है कि यह नश्वर जगत जहाँ तक दिखलाई देता है उसी माया का एक अंश है । इसका जन्म ही माया से हुआ है :—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानहु भाई ।३

इसी के आगे वे कहते हैं कि माया-जनित होने के कारण इस जगत में सब वस्तुएँ भ्रमोत्पादक तथा मृषा हैं । यदि राम के सत्य का इसमें योग हो जाता है तो ये सत्य-रूप भासित होने लगती है :—

१—जासु सत्यता तै जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ।४

२—यत्सत्त्वाद मृषैव भाति मकलं रज्जोयथा हेभ्रमः ।५

षष्टम, जीव-विषयक विचारों का प्रतिपादन करने के लिए हम 'मानस' के अनेक पृष्ठों को उलट सकते हैं । इनमें गोस्वामी जी ने बड़े ही सहज भाव से कह दिया है कि 'जीव' वही है जिसे माया, ईश्वर अथवा स्वयं का ज्ञान नहीं है । जीव के धर्म हैं—सुख-दुख, ज्ञान-अज्ञान तथा अहम्-भाव । जीव नित्य माया के अन्धकार में फँसा रहता है । निम्न दो उदाहरणों से इस कथन की पुष्टि हो जाती है :—

१—माया ईस न आप कहुं, जान कहिअ सो जीव ।६

२—नाथ जीव तव माया मोहा ।७

मानस में तो दार्शनिक तत्त्वों का निरूपण अति परिमार्जित व्यापक तथा प्रभावोत्पादक हुआ ही है परन्तु हमें देखना यह है कि 'विनय-पत्रिका' में किस दार्शनिक तत्व का निरूपण हुआ है । परन्तु साथ ही साथ 'मानस' को छोड़ भी नहीं सकते । मानस में जो सिद्धान्त व विचार मिलते हैं उन्हीं के अनुरूप

१. मानस०, उत्तर० ६२ । २. वही, अरण्य० १५ । ३. वही अरण्य० १५ । ४. वही बाल० ११७ । ५. वही, बाल० १ । ६. मानस०, १५ । ७. वही, किष्किन्धा० ३ ।

सिद्धान्त 'विनय-पत्रिका' में अन्तर्हित हैं और इसीलिए उनकी इतनी समीक्षा करना अनिवार्य समझा गया है।

'विनय-पत्रिका' में तुलसी का दार्शनिक दृष्टिकोण निश्चित करने से पूर्व पं० केशवप्रसाद मिश्र के विचार का भी अनुप्रेक्षण कर लीलिए : "यों तो गोस्वामी जी की समन्वय बुद्धि सभी दार्शनिक सिद्धान्तों में अविरोध देखती है, सभी को यथास्थान महत्व देती है और सभी पक्षों का समर्थन करती है; पर उनके प्रस्थान के अनुरोध तथा ग्रन्थ के उपक्रम और उपसंहार के विचार से द्वैत सिद्धान्त और भक्ति पक्ष में ही उसका (दार्शनिक दृष्टिकोण) का पर्यवसान प्रतीत होता है।"१

मिश्र जी का यह विचार 'मानस' पर आधारित है। परन्तु यह कहने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं कि मिश्र जी का यह विचार निराधार ही है। ऊपर दिए हुए विभिन्न उदाहरणों से यह कहीं सिद्ध नहीं होता कि गोस्वामी जी द्वैतवाद के प्रतिपादक थे। हाँ, कहीं-कहीं ऐसा भासित अवश्य होता है परन्तु यह केवल भासित ही होकर रह जाता है ; इसकी पुष्टि कहीं नहीं होती। उनके माया, जीव तथा परमात्मा सम्बन्धी सभी विचारों से उनके अद्वैतवादी ही होने का प्रमाण स्पष्ट रूप से मिलता है। यदि 'विनय-पत्रिका' में देखें तो इसी अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन पाएँगे। उदाहरणार्थ निम्नांकित पद देखिए :—

केसव कहि न जाइ का कहिए।
देखत तव रचना बिचित्र अति, समुझि मनहि मन रहिए॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहि, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न, मरै, भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे॥
रबिकर नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।

१. कल्याण, मानस अङ्क, खण्ड २ पृष्ठ ६७७।

तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचानै ॥१

इस पद से यह जान पड़ता है कि गोस्वामी जी शांकर अद्वैतवाद को मानते हुए भी उसमें भ्रम का अंश देखते हैं। यह स्पष्टतः यही घोषित करता है कि गोस्वामी जी अद्वैतवादियों के 'विवर्त वाद' के अनुयायी हैं। उनके लिए 'केशव' का विषय अनिर्वचनीय ही है। परन्तु साथ ही साथ यह भी मानना पड़ता है कि इस विवर्तवाद पर भी उन्होंने अपनी नयी मोहर लगा दी है।

इस पद से कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि तुलसी का दार्शनिक दृष्टि-कोण न अद्वैतवाद है न द्वैतवाद है और न विशिष्टाद्वैत। न तो वे शंकराचार्य के अनुगामी है और न ही मध्वाचार्य अथवा रामानुजाचार्य के अनुसरण कर्त्ता। उनका मत 'प्रस्थान भेदाद्दर्शनभेदः' की भाँति इन तीनों से नितान्त भिन्न एवम् स्वतन्त्र है। उनकी विचार-पद्धति से तो द्वैतवाद का ही पोषण होता है, क्योंकि इसके अनुसार उपासक तथा उपास्य की सत्ता पृथक रूप में है। उपास्य उपासक पर पूर्णतया आत्म-निर्भर है। परन्तु कुछ अधिक गहरे पैठने से यह विचार अद्वैतवाद से पूर्णतया आच्छादित हो जाता है। और तनिक और अधिक गहराई में जाने से यह भ्रम भी दूर हो जाता है और तुलसी को स्वतन्त्र मत घोषित करते हुए पाते हैं :—

'तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचानें।'२

इस एक पंक्ति को पढ़ने तथा समझने के पश्चात् हम उन सिद्धान्त-वादियों के विषय में क्या कह सकते हैं जो कहते हैं कि गोस्वामी जी द्वैतवाद के पोषक हैं, अथवा अद्वैतवाद के अनुयायी हैं अथवा विशिष्टाद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं। यहाँ तो उन्होंने तीनों का ही परिहार करके एक प्रकार से तीनों में परिष्कार सा कर दिया है। इससे यही कहना पड़ता है कि बाबाजी इन वादों से परे भक्ति-वाद के आवरण से ही अपने को ढके हुए जान पड़ते हैं। उन्हें हम भगवत् माधुर्य से ही रंगा पाते हैं। ऐसे भक्त के विषय में

१. विनय० पद १११। २. वही, पद १११

आत्मा-परमात्मा-ऐक्य का परिपोषक कहना असंगत ही होगा जो कि 'जे मुनि ते पुनि आपुहि आपुको ईस कहावत सिद्ध सयाने' कह कर अद्वैतवाद के प्रति उदासीनता अभिव्यंजित कर रहे हैं। जो अपने अवलम्ब राम से यह विनती तथा आकांक्षा करते हैं कि :—

'निकट बोलि, बलि, बरजिए, परिहरै ख्याल अब तुलसिदास जड़जी को[१]

उन्हें 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' कथन को हृदयंगम करने वालों की कोटि में भी रखना युक्तिसंगत न होगा। गोस्वामी जी 'विनय-पत्रिका' के एक पद में लिखते हैं—

सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-बियोगी ॥२

अर्थात् 'जो योगी दृश्यमात्र को, सारे पंचभूतात्मक प्रपंच को, अपने उदर में रखकर (चित्तवृत्ति-निरोध द्वारा संसार को लय करके) निद्रा को त्याग कर सोता है, अर्थात् अविद्या हटाकर ब्राह्मी अवस्था में तल्लीन हो जाता है और भेदात्मक ज्ञान का आत्यन्तिक त्याग कर देता है, वही वैष्णव पद के परमानन्द की प्रत्यक्ष अनुभूति कर सकता है, ब्रह्मानन्द का पूर्णाधिकारी हो सकता है।'

इसे पढ़ने के उपरान्त कौन कह सकता है कि तुलसीदास द्वैतवाद में विश्वास रखते थे। यह तो पुकार-पुकार कर उनका द्वैतवाद के प्रति विरोध घोषित करता है। इसी प्रकार हम गोस्वामी तुलसीदास को सांख्यवाद का भी विरोध करते हुए पाते हैं। उन्हें वांछित भक्ताश्रय का साक्षात्कार हो गया; पर फिर भी वे यही कहते हैं :—

प्रभु-गुन सुनि मन हरषिहै नीर नयननि ढरिहै।
तुलसिदास भयो राम को विस्वास प्रेम लखि आनंद
उमँगि उर भरि है ॥३

ऐसे तुलसी को हम 'स्वयं तु सदसत्त्वं प्रपंचस्य यद् वक्ष्यति तत्र सत्त्वासत्त्वे व्यक्ताव्यक्तरूपत्वाद्विरुद्धे' कथन के मानने वालों में कैसे रख सकते हैं?

१. विनय० पद २५६, २. वही, पद १६७, ३. वही, पद २६८

इस प्रकार यही संगत तथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि गोस्वामी जी एक स्वतन्त्र मार्ग के अनुयायी हैं। वे उस साधन-मार्ग पर चले हैं जो इन वादों से सर्वथा भिन्न है। इसे हम केवल भक्ति-मार्ग ही कह सकते हैं। उनका सिद्धान्त अनन्य-निष्ठा के सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यहाँ पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत विचारणीय हैं। "अन्त में इस सम्बन्ध में इतना कह देना आवश्यक है कि तुलसीदास जी भक्तिमार्गी थे, अतः उनकी वाणी में भक्ति के गूढ़ रहस्यों को ढूँढना ही अधिक फलदायक होगा, ज्ञान-मार्ग के सिद्धान्तों को नहीं।"

परन्तु खेद है कि कुछ आलोचकों ने गोस्वामी जी द्वारा अपनायी गयी राम-भक्ति की अनन्यता में संदेह किया है। उनका विचार है कि अन्य देवी देवताओं के उपासक को राम का अनन्य भक्त कैसे कहा जा सकता है? उन्होंने क्षण भर यह विचार नहीं किया कि कोई भी निवेदन-पत्र सीधा सर्वाधिकारी के पास तक कैसे पहुँच सकता है। और फिर यह तो पारलौकिक निवेदन-पत्र है। सांसारिक पक्ष को ही ले लीजिए। निवेदन-पत्र देने से पहले अनुशंसा की आवश्यकता अनिवार्य समझी जाती है। यही सिफारिश तुलसी ने अन्य देवी-देवताओं से करवायी है। उनकी जय-जयकार इसी निमित्त की है। सबसे बड़ी बात ध्यान देने की यह है कि उन्होंने सबसे केवल राम भक्ति की ही याचना की है। सर्वत्र अपने 'राम' की ही छवि का दर्शन करना चाहा है। उनकी ये स्तुतियाँ तथा प्रार्थनाएँ "सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति" को पूर्णतः चरितार्थ करती हैं। यही उनका भक्ति-सिद्धान्त है।

गोस्वामी जी द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्त को, 'विनय-पत्रिका' के आधार पर ही, समझने का प्रयत्न करना असंगत सा लगता है। यह कहना तो सत्य है कि गोस्वामी जी ने गूढ़ से गूढ़ रहस्यों को अपनी सरल तथा सहज प्रवृत्ति के अनुसार अति ग्राह्य ढंग से व्यक्त कर दिया है। परन्तु यह कहना भी असत्य नहीं कि उन गूढ़ रहस्यों को उस शब्दगत व्यक्तीकरण में से सुलझा कर किसी तथ्य पर आ जाना बहुत कठिन है। फिर भी इस निर्णय पर तो हम आ ही जाते हैं कि 'विनय-पत्रिका' में अन्य वादों की

अपेक्षा भक्तिवाद का ही प्रतिपादन अधिक मान्य है।

अब 'मानस' की भाँति 'विनय-पत्रिका' में व्यक्त दार्शनिक मतों का क्रमानुसार विवेचन होगा। यहाँ हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि विविध विषयों पर गोस्वामीजी का क्या मत है। वे इन्हें किस दृष्टिकोण से देखते हैं।

माया—माया भ्रमात्मक है। इसने सारे संसार को अपने वृहदांचल से आवर्त्त कर रक्खा है। उसी अंचल से, एक समय था जब, तुलसी स्वयं आच्छादित हुए थे। एतावता एक पद में उन्होंने लिखा है—

मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो ॥१

१ विनय पद १३६,

आगे इसी पद में वे विषय माया तथा को गुणमयी बतलाते हैं।

'तेहि ईस की हौं सरन जाकी विषय माया गुनमई।'१

माया के दो भेद हैं—विद्या एवं अविद्या। सीताजी विद्या-माया की प्रति रूप हैं। यही माया का वह रूप है जो भगवान की अनुकम्पा से भगवान के चरणों में संलग्न भक्त के ऊपर अपनी छत्र-छाया रखता है और भक्ति-भाव के उद्रेक में सहायक होता है। इसीलिए तुलसी सीताजी से अपनी सहायतार्थ विनती करते हैं—

"कबहुँ समय सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी ॥"२

अविद्या माया के रूप का प्रत्यक्षीकरण एक पंक्ति में ही देखिए कैसा हुआ है —

'परदार परधन दोह पर संसार बाढ़ै नित नयो'३

राम—सच्चिदानन्द भगवान-राम निर्गुण तथा सगुण दोनों ही हैं—

'अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरामि नर भूप रूपं।'४

ये राम लीलावतारी हैं। इसीलिए देहधारण करके सगुण रूप हो गए हैं —

'जयति सच्चिदानंद व्यापक यद्ब्रह्म विग्रह व्यक्त लीलावतारी।
विकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध संकोचवस विमल गुण गेह नर देहधारी ॥५

१ विनय० पद १३६। २ वही, पद ४२। ३ वही, पद १३६। ४ मानस बाल० ५०। ५ विनय० पद ४३।

राम ही सृष्टि की रचना, स्थिति तथा लय के कारण हैं :—

१. 'विश्वधृत विश्वहित अजित गोतीत शिव विश्वपालनहरण विश्वकर्त्ता१

२. सर्वरक्षक सर्वभक्षकाध्यक्ष कूटस्थ गूढ़ाच भक्तासुकूलं।२

३. विश्वपोषन भरन विश्वकारन करन सरन तुलसीदास त्रासहंता।३

ईश्वर (राम) ही माया, जीव, गुण, काल, कर्म, प्रकृति के अधिष्ठाता हैं :—

"प्रकृति, महतत्व, शब्दादि, गुन, देवता, व्योम, मरुदग्नि अमलांबु उर्वी।
बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्रान, चित्तातमा, काल, परमानु, चिच्छक्ति गुर्वी।
सर्वमेवात्र—त्वद्रूप भूपालमनि व्यक्तमव्यक्त गतभेद, विष्णो।
भुवन भवदंग कामरि—वंदित पदद्वंद्व—मन्दाकिनी-जनक-जिष्णों।४

आरम्भरहित, अचल, आनन्द सिंधु, विकार-रहित, अंभोदनाद-बन्धु राम तथा ब्रह्म राम को अभेद दृष्टि से देखते हुए गोस्वामी जी भगवान से शरण-हेतु विनय करते हैं :—

अनघ, अद्वैत, अनवद्य, अव्यक्त, अज,
अमित अबिकार आनन्दसिंधो।
दास-तुलसी खेदखिन्न, आपन्न इह,
सोक सम्पन्न अतिसय सभीतं।
प्रनतपालक राम, परम करुनाधाम,
पाहि मामुर्विपति दुर्विनीतं।५

अर्थात् आप पापरहित हैं, अद्वैत हैं, निर्दोष हैं, अप्रकट, अजन्मा, अनादि विकाररहित और आनन्द-सागर हैं। आप स्थिर हैं, गृहविहीन हैं (सर्वव्यापी हैं), आप अनन्त हैं, रोग-दोष रहित, मेघनाद के नाश करने वाले श्री लक्ष्मण के सहोदर हैं। इस संसार के दुखों से दुखी, संतापों से

१ विनय० पद ६१, २ वही पद, ५३, ३ वही पद, ५५, ४ वही पद ५४, ५ वही, पद ५६।

घिरा हुआ यह दासतुलसी अत्यन्त भयभीत हो रहा है। हे प्रणतपालक, करुनाधाम, पृथ्वीपति राम इस दुर्विनीत की रक्षा कीजिए।

जगत—गोस्वामी जी ने इस जगत को नितान्त असत्य तथा भ्रमात्मक कहा है। देखिए :—

'जो जग मृषा ताप-भय-अनुभव होइ करहु केहि लेखे'१

अद्वैतवादी अपने सिद्धान्तानुसार जगत को मिथ्या ठहराते हैं, सांख्यवादी इस गोचर जगत को सर्वथा मिथ्या न कहकर सत्य घोषित करते हैं और द्वैतवादी सत्यासत्य के रूप को निश्चित करते हैं। गोस्वामी जी इन तीनों को 'भ्रम' कह कर त्याग देते हैं। इनका विचार है कि जो इन तीनों भ्रमों के परे होकर जगत का अवलोकन करता है वही इसके सत्य रूप को पहचान कर आत्मा की अनुभूति कर सकता है :—

'कोउ कह सत्य झूठ कह कोउ, जुगलप्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपुन पहिचानैं॥२

गोस्वामी जी ने इस जगत को 'धुआँ का धौरहर' तथा नभवाटिकासा कह उसकी असत्यता एवं असारता का अति प्रभावशाली चित्र खींचा है :—

जग नभवाटिका रही है फल फूलि रे।
धुवाँ के से धौरहर देखि तू न भूलि रे॥३

विनय-पत्रिका में गोस्वामी जी ने जग को रात्रि के समान कह कर इसके मोहपूर्ण तथा क्षणिक होने का अति भावपूर्ण संकेत दिया है :—

जागु-जागु जीव जड़ जोहे जग जामिनी।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी॥
सोवत सपने सहै संसृति संताप रे।
बूड़ो मृगबारि खायो जेवरी को साँप रे॥४

गोस्वामी जी ने निम्नाङ्कित शब्दों में जगत की विभीषिका कैसे सरल ढंग से व्यक्त की है। उनका विचार है कि यह संसार उन्हीं के लिए मनोरम है जिनमें ज्ञान का उदय नहीं हुआ है। यह उन्हीं के लिए सुखदायी होता है

१ विनय पद १२१, २ वही, पद १११, ३ वही, पद ६६ ४ वही, पद ७२

जो अपने व्यवहार में ज्ञान, दया, तथा संतोष का सुयोग करते हैं :—

अनविचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी।
सम-संतोष-दया-बिवेक तें, व्यवहारी सुखकारी ॥१

अन्त में देखिये कि बाबाजी इस जगत को 'मृषा' कह कर भगवान से, अपने इस जगजनित भ्रम को दूर करने के हेतु, किस प्रकार हाथ जोड़ कर कहते हैं :—

हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासैं जब लगि नहि कृपा तुम्हारी ॥२

जीव—गोस्वामीजी ने जीव को परमात्मा का ही अंश माना है। जब से जीव परमात्मा से पृथक हुआ तभी से माया-जाल में फंस गया। माया के वश होकर उसने अपना रूप—(सच्चिदानन्द रूप) ही भुला दिया।:—

'जिय जबतें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह जिन जान्यो।
माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो ॥३

जीव को धिक्कारते हुए और उसे अपने अस्तित्व का परिज्ञान कराते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि 'तू प्यास से क्यों मरा जारहा है जब कि तेरा निवास स्थान आनन्द-सागर है।' निम्नांकित पंक्तियाँ जीव के विशुद्ध रूप को प्रस्तुत करती हैं :—

'आनँद-सिंधु-मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा।
मृग-भ्रम बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी ॥
तहं मगन मज्जसि पान करि। त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप तब। खल भूलि अब आयो तहाँ ॥
निर्मल निरंजन निर्विकार। उदार सुख तैं हरिहरचो।
निः काज राज बिहाइ नृप इव सपन कारागृह परयो ॥४

अर्थात् हे जीव, तू आनन्द-सागर में निवास करता है; तू (अब इसी के अंश रूप में पृथक होकर) उसे भुला कर प्यासा क्यों मर रहा है ? तू मृग-

१. विनय पद, १२१ २. वही, पद १२० ३. वही, पद १३६ (१) २. ४. वही, पद १३६ (२)।

जल को सत्य मान कर, उसी में नहा कर मग्न हो रहा है। यह तेरा अज्ञान है। वहाँ तो तीनों काल में भी पानी नहीं है। तू अपना प्राकृतिक अनुभवगत् रूप भूल कर यहाँ आ बसा है। तूने इस प्रकार उस उदार आनन्द को त्याग दिया है जो निर्मल, अविनाशी और विकार रहित है। तूने व्यर्थ ही राजाओं जैसा राज्य त्याग कर स्वप्न-गृह को अपनाया है। स्वतन्त्र आत्मानन्द छोड़ कर परतन्त्र विषय एवं स्वप्न-कारागृह में अपने को बाँध रखा है।

आगे जीव से गोस्वाजी जी कहते हैं :—

'तू निज कमर-जाल जहँ घेरो। श्री हरि संग तज्यो नहिं तेरो॥
बहु विधि प्रति पालन प्रभु कीन्हों। परम कृपालु ग्यान तोहि दीन्हों॥१

निम्न पंक्ति में भगवान को जीव के काल, भाग्य तथा दशा-दुर्दशा का अधिपति बतलाते हुए तुलसीदास जी कहते हैं :—

'काल करम, गति-अगति जीव की, सब हरि हाथ तुम्हारे'२

जीव पराधीन है, ईश्वर स्वाधीन। यही सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए जीव को माया तथा ईश्वर को माया-पति बतलाया है :—

हौं जड़ जीव, ईस रघुराया।
तुम मायापति हौं बस माया॥३

जीव तथा परमात्मा में भेद केवल उसके मन में उत्पन्न विकारों के कारण ही है। यदि ये विकार दूर हो जायें, तो इस भेद-भावना से जनित संसार के दुख, भ्रमादि सब स्वतः ही दूर हो जायेंगे :—

'जौ निज मन परिहरै विकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख संसय सोक अपारा॥४

जीव तथा परमात्मा के इस वियोग के कारण ही उसका मन इस माया रूपी संसार में फंस जाता है। वह इस सांसारिक विषयादि में इतना लिप्त हो जाता है कि बार-बार 'जगजोनि' में भ्रमण किया करता है। आवागमन के वृहत् चक्र में फँस कर उसकी परिधि के साथ घूमा ही करता है। वह कुछ

१. विनय० पद १३६ (४) २. वही, पद ११२ ३. वही, पद १७७
४. वही, पद १२४।

विवश सा जान पड़ता है। इसी विवशता के कारण वह नाना प्रकार के कर्म-जाल में बँधा हुआ जन्म-मरण के निरन्तर चलने वाले चक्के के साथ ऊपर-नीचे घूमा करता है। इसी विवशता की शिला से, माया-रज्जु द्वारा, बँधे हुए बाबाजी सोचपूर्ण शब्दों में कहते हैं।

१, अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु दास हित, मोह न छूटै माया ॥१

२, हौं हार्‌यौ करि जतन विविध विधि अतिसय प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहि जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥२

एक स्थल पर तो वे इतने विरक्त तथा विकल दृष्टिगोचर होते हैं कि इस मायात्मक संसार के नाश को ही युक्तिपूर्ण ठहराने लगते हैं। उनका विचार है कि जब तक यह भ्रमात्मक जगत इसी रूप में विद्यमान रहता है और उस के साथ जीव का परिचय ऐसा ही बना रहता है, तब तक उसका कल्याण नहीं हो सकता :—

तुलसिदास जग आपु सहित जबलगि निर्मूल न जाई।
तबलगि कोटि कलप उपाय करि मरिय तरिय नहि भाई ॥३

साधन-मार्ग—

गोस्वामीजी के विचारानुसार जीव को अपने सहज तथा स्वाभाविक रूप का बोध अथवा उसके प्रति अनुराग तभी होता है जबकि अनात्म एवम् आत्म का पूर्ण योग हो जाता है और दोनों को अपने अस्तित्व में एकता तथा समता का भास होने लगता है। इस परमहंसावस्था में उसे अलौकिक तथा दिव्यानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

देह जनित बिकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरुप अनुरागै।
× × × ×
निरमल निरामय एकरस तेहि हर्ष-सोक न व्यापई।४

राम के प्रति अनुराग उत्पन्न होने से ही भेद में अभेद की भावना जाग्रत

१. विनय० पद १२३। २. वही पद ८६। ३. वहीपद १२२।
४. वही पद १३६।

हो सकती है। राम-भक्ति के आश्रितोपरान्त ही भ्रम का अन्त होता है। राम-भक्ति सुलभ भी है और भौतिक, दैहिक तथा दैविक तापों द्वारा जनित भय को दूर करने वाली भी :—

रघुपति-भक्ति सुलभ सुखकारी। सेा भय ताप-शोक-भय हारी॥
बिनु सत्संग भक्ति नहीं होई। ते तब मिलै द्रवै जब सेाई॥
जव द्रवै दीनदयालु। राघव साधु-संगति पाइए॥
जेहि दरस-परस समगमादिक पापरासि नसाइए॥
जिनके मिले सुख-दुख समान। अमानतादिक गुन भए॥
मद-मोह लोभ विषाद क्रोध। सुबोध तें सहजहि गए॥१

राम-भक्ति प्राप्त करने का सरल मार्ग अनेकानेक पदों में प्रदर्शित किया गया है। यह मार्ग सन्त-सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बाबाजी के मतानुसार साधु तथा श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित मार्ग का अनुसरण करने मात्र से ही रामानुराग प्रस्फुटित होकर जीव-जगत के पृथकत्व का भ्रम मिट जाता है :—

१—सेवत साधु द्वैत-भय भागै। श्री रघुवीर चरन लौ लागे॥२
२—जो तेहि पंथ चलै मन लाई। तौ हरि काहे न होहिं सुहाई।
जो मारग स्रुति साधु दिखावै। तेहि पथ चलत सबै सुख पावै।
पावै सदा सुख हरि कृपा। संसार आसा तजि रहै।
सपनेहुँ नहिं दुख-द्वैत दरसन। बात कोटिक को कहै॥
द्विज देव गुरु हरि संत बिनु। संसार पार न पाइए।
यह जानि तुलसीदास त्रास-हरन रमापति गाइए॥३
३—साधु-कृपा बिनु मिलहिं न करिय उपाय अनेक।४

राम से विमुख होने पर कैसे भी यत्न किये जाएं इस भव-सागर से मुक्ति नहीं मिल सकती। इसीलिए गोस्वामी जी संसार-जनित विकारों को त्याग कर सर्वसुखदायी राम की कृपा पर हो आश्रित रहने का मार्ग अपनाने की सम्मति देते हैं :—

---

१. विनय० पद १३६ (१०)। २. वही पद १३६ (११)। ३, वही पद १३६ (१२)। ४. वही पद २०३।

अजहुँ विचार विकार तजि, भजु राम जन सुखदायकं ।
भव सिंधु दुस्तर जलरथं, भजु चक्रधर सुरनायकं ॥
बिनु हेतु करुनाकर उदार, अपार माया तारनं ।
कैवल्य-पति, जग पति, रमापति, प्रानपति गति कारनं ॥

इस राम-नाम तथा राम-भक्ति को ही परम साधन मान कर गोस्वामीजी इस भवसागर से पार होना चाहते हैं। उनका कहना है कि संसार रूपी समुद्र से तरने के लिए सन्तों के पवित्र चरण ही नौका है; और अविद्या के नाश करने वाले तथा आनन्द को राशि देने वाले एक 'हरि' ही हैं। यथा—

संसय-समन, दमन-दुख, सुखनिधान हरि एक ।१

उन्होंने पूर्ण 'विनय-पत्रिका' में इसी मार्ग की परिपुष्टि की है। उनका कहना है कि अनेक शास्त्र अपने-अपने मत का प्रतिपादन करते हैं परन्तु इन सब मतों के अनुसार माने हुए पन्थ अनुसरणीय न होकर दुविधाजनक ही प्रतीत होते हैं। उनके गुरु द्वारा जो राम-नाम का पथ प्रदर्शित किया गया है वही सर्वश्रेष्ठ है। यहाँ तक कि वे पंचाग्नि तापना, जल-शयन करना, सारे तीर्थों की पैदल यात्रा करना, अन्नादि ग्रहण किए बिना ही पर्यटन करना; कृच्छ, महाकृच्छ, चांद्रायणादि व्रत का साधन करना, शास्त्रोक्तदान व इच्छित दान देना; अनेक ढंग से यज्ञादि करना भी इस राम-नाम के समक्ष तुच्छ मानते हैं। ये सब प्रसाधन इस एक साधन के समक्ष विफल ही जान पड़ते हैं। इस अनन्यनिष्ठा को हृदयंगम कर लेने पर बाबाजी जप, तीर्थ, उपवास, यज्ञादि को ही नहीं अपितु अनेकानेक मतों तथा पथों तक को केवल 'शब्दारण्यं महाजाल चित्तभ्रमण कारण' ही कह कर टाल देते हैं। विशेषतः इस कलियुग में उन्हें और किसी का भरोसा ही नहीं है। देखिए :

नाहिन आवत आन भरोसो ।
यहि कलिकाल सकल साधन तरु है श्रम-फ़लनि फरो सो ॥
तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुच करो सो ।
पायेहि पै जानिवो करम-फल भरि-भरि बेद परो सो ॥

---

१ वही पद २०३।

अगम-विधि जप-जाग करत नर सरत न काज खरो सेा।
सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन, रोग बियोग धरो सेा॥
बहु मत सुनि बहु पन्थ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सेा।
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सेा॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि पचि मरै मरो सेा।
राम-नाम बोहित भव-सागर चाहै तरन तरो सेा॥१

अर्थात् मुझे एक राम की शरण के अतिरिक्त अन्य कहीं किसी प्रकार का भरोसा नहीं है। इस कलियुग में जितने भी साधन रूपी वृक्ष हैं, उनमें केवल परिश्रमरूपी फल लग रहे हैं। (कलि के क्रूर हाथों से कुछ बचता ही नहीं) यह ऐसा समय है जबकि तपस्या, तीर्थाटन, दान, व्रतादि का फल केवल प्राप्त होने पर ही जाना जा सकता है कि यह क्या है। कलि के कारण वेदों अथवा श्रुतियों द्वारा बताए गए सत्कर्म के पत्तल भर फलों पर भी कुछ विश्वास नहीं किया जा सकता। कारण, मनुष्य शास्त्रोक्त विधि से जप, तप, यज्ञादि करते भी हैं पर उसकी क्रूरता के प्रभाव से उसका फल कुछ नहीं होता। योग-सिद्धि-साधन के द्वारा सुख प्राप्त नहीं होता, वह भी शरीर के रोग अथवा कुटुम्ब-वियोग के करण निष्फल हो जाता है। इस युग में शास्त्रों के अनेक मत सुनकर और पुराणों में विभिन्न पंथों को देख कर, यह सब केवल एक झगड़ा सा प्रतीत होता है, कोई निश्चित मार्ग नहीं दीख पड़ता। इसलिए मेरे गुरु ने मुझे जो राम-नाम का मंत्र दिया है वही मेरे लिए राज-मार्ग के समान है। गोस्वामी जी अन्त में केवल राम-नाम को ही जहाज बतलाते हुए कहते हैं कि इस भव सागर से पार होने का केवल एक ही साधन है और वह है राम-नाम।

उपर्युक्त पद में तुलसी के साधन-मार्ग का बड़ा ही स्वच्छ एवम् विशद रूप निखरा है। गुरु द्वारा बतलाए हुए मार्ग—राम-भजन—के विषय में पद्मपुराण में कहा गया है—

'न तत्पुराणं नहि यत्र रामो यस्यां न रामो न च संहिता सा।
स नेतिहासेा नहि यत्र रामः काव्यं न तत्स्यान्नहि यत्र रामः॥'

१ विनय० पद १७३।

इसी विचार को लेते हुए गोस्वामी जी विनयपत्रिका में लिखते हैं—

ग्यान भक्ति साधन अनेक सब सत्य, झूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं ।१

अर्थात् ज्ञान, भक्ति आदि अनेकानेक साधन उपलब्ध हैं परन्तु इनके सत्य होते हुए भी अविद्यानाश केवल हरिकृपा से ही होता है।

कहने का तात्पर्य यह कि बाबाजी द्वारा प्रतिपादित साधनमार्ग अति प्रशस्त, व्यापक, अनसरणीय तथा सुलभ है। इस मार्ग पर चल कर साधक भगवद्नुग्रह की ही आकांक्षा करता है। उसे वर्णाश्रम धर्म, वेद, पुराण, शास्त्र, आदि अनेकानेक पंथ तथा मत सर्वथा थोथे जान पड़ते हैं। उसे अपने मार्ग में ही सद्विचारों तथा सद्गुणों की संतुलित अभिव्यंजना हुई जान पड़ती है। इस मार्ग पर चल कर भक्त अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है। फिर भी दास्य-भाव का परित्याग नहीं करता। यह भाव उसके हृदय में निरंतर बना रहता है। उसे पूर्ण जगत भगवद्रूप गोचर होता है।

यहाँ तक हमने गोस्वामी जी के माया, जीव, राम, जगत तथा साधन-मार्ग सम्बन्धी विचारों का परिशीलन किया। अब देखना यह है कि इन प्रतिपाद्य विषयों के आधार पर उन्हें किस मार्ग अथवा सिद्धान्त का अनुयायी कहा जा सकता है।

सर्वप्रथम अद्वैतवाद के मतानुयायियों के अनुसार 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' को आधार मानकर ब्रह्म की अखंड सत्ता पर विचार करना चाहिए। विनयपत्रिका में ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं जो गोस्वामीजी की अद्वैतभावना का स्पष्ट परिचय देते हैं। उनका कहना है कि जो अविद्या का नाश करके ब्राह्मी अवस्था में लीन हो जाता है और जो भेदात्मक ज्ञान से मुक्त हो जाता है वही परमानंद की प्राप्ति कर पाता है। एक स्थल पर वे लिखते हैं—

'सेवत साधु द्वैत-भय भागे।'२

इस प्रकार वे अपने मत को स्पष्ट कर देते हैं। परन्तु इतने ही आधार

१ विनय० पद ११६।
२ वही, पद १३६ (११) (१२)

पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि ये अद्वैतवाद के पोषक हैं। इससे तो केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे द्वैतवाद के अनुयायी नहीं थे।

अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म और जीव का अभेद गोस्वामी जी की विनय-पत्रिका में कहीं नहीं मिलता। वे जीव को ब्रह्म का एक अंश मानते हैं। उनका विचार है कि जीव ब्रह्म से अलग होकर संसार में आया है—

'जिय जबतें हरि तें बिलगान्यो।'१

पृथक होने के उपरान्त वह पृथक ही रहेगा; हाँ राम-नाम के स्मरण से वह एकीभाव का अनुभव अवश्य कर सकता है। यहाँ एक शंका यह उठायी जा सकती है कि जीव और ब्रह्म एक ही है क्योंकि इस पृथक दशा में ब्रह्म प्रकृति के साथ रत होने के कारण 'जीव-रूप' में अपना स्वरूप भूल गया है। गीता में भी लिखा है—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'। अतः ब्रह्म-जीव में कोई भेद नहीं। दोनों की एक ही सत्ता है। परन्तु यह कहना सत्य नहीं। यहाँ अद्वैत का आभास होते हुए भी द्वैत का प्रतिपादन है; क्योंकि ब्रह्म से अंश रूप में विलग होते ही और संसार के माया-जाल में फसते ही दोनों की सत्ता में भिन्नत्व आ गया, दोनो का महत्व पृथक होगया। केवल मुक्तिदशा में ही जीव का ब्रह्मानन्द प्राप्त करना सम्भव हो सकता है।

अद्वैतवादियों के 'जगन्मिथ्या' का प्रतिपादन गोस्वामीजी ने अनेक पदों में किया है।२ कहीं से एक-दो उदाहरण खोज कर यह कह देना कि 'जग-न्मिथ्या' का सिद्धान्त भी गोस्वामी जी को अग्राह्य है"३ मेरे विचार से खींचा तानी करना और किसी न किसी तरह गोस्वामी जी को अद्वैतवाद के प्रत्येक सिद्धान्त के विरुद्ध खड़ा करना ही है। हाँ, एक-दो स्थलों में अवश्य तुलसी ने जगत को राम की रूपाभिव्यक्ति बतला कर उसे असत्य मानना भ्रम सिद्ध किया है। उनका मत है कि राम ही अभेद रूप में सब में रम रहे हैं—'सर्व मेवात्र त्वद्रूप'४। इस प्रकार उन्हें अद्वैतवाद का सर्वथा विरोधी कहना

१ विनय० पद १३६ (१)

२ विनय० पद ६६, ७३, १२०, १२१।

३ तुलसीदास और उनका युग—पृष्ठ २६८। ४. विनय० पद ५४

संगत नहीं जान पड़ता। यहाँ तो उन्होंने साष्टतः अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया है।

अद्वैतवादियों को 'विवर्तवाद' के सिद्धांतानुसार यह कार्यभूत जगत केवल असत्य ही जान पड़ता है। उनका मत है कि जगत माया से उत्पन्न है और प्रकृति ब्रह्म का अनुरूप है। ब्रह्म का विवर्त, प्रकृति ही सत्य है और शेष सब भ्रम है, असत्य है। वस्तुतः हम कह सकते हैं 'विवर्तवाद' के अनुसार जगत् माया का परिणाम और सृष्टि, ब्रह्म का रूपांतर है। इस सिद्धान्त के प्रथम भाग अर्थात् जगत् को माया का परिणाम तुलसी ने कहीं नहीं कहा है। हाँ, जीव को माया के वश में अवश्य कहा है परन्तु उससे कोई निष्कर्ष-सिद्धि नहीं होती। 'मानस' में एक स्थान पर गोस्वामी जी ने 'माया बस्य जीव सचराचर'१ कह कर कुछ भ्रान्ति अवश्य उत्पन्न कर दी है परन्तु इसकी पुष्टि विनयपत्रिका में कहीं नहीं मिलती। इस सिद्धान्त का द्वितीय भाग अर्थात् सृष्टि अथवा प्रकृति, जगत् प्रभृति ब्रह्म का ही रूपान्तर है—तुलसी को सर्वथा मान्य है। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि गोस्वामी जी अवतारवाद को मानते हुए अपने 'कोसलेश' को अनेक रूपों में देखते हैं और अन्त में उन्हीं को 'प्रगट परमात्मा ब्रह्म'२ स्वीकार करते हैं। दूसरी बात यह कि इस जगत् की प्रत्येक वस्तु में उन्हीं की स्थिति एवं उन्हीं का रूप देखते हैं, यथा—

प्रकृति, महतत्व, शब्दादि गुन, देवता, व्योम, मरुदग्नि, अमलाम्बु उर्वी।
बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्रान, चित्तात्मा, काल, परमानु, चिच्छक्ति गुर्वी॥
सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमनि। व्यक्तमव्यक्त गतभेद, विष्णो।३

अतः डा० राजपति दीक्षित का यह कहना कि 'गोस्वामी जी को विवर्तवाद का सिद्धान्त कदापि ग्राह्य नहीं४ सर्वथा भ्रान्तिमूलक तथा अप्रामाणिक

१ मानस० उ० ७७, ४।
२ विनय० पद, ५२।
३ वही, पद ५४।
४ तुलसीदास और उनका युग, पृष्ठ २६८।

है। यदि पूर्णरूप से नहीं तो अंशतः तो अवश्य ही विवर्तवाद तुलसी को ग्राह्य था जिसका पुष्ट प्रमाण उपर्युक्त पद में मिलता है।

परन्तु ऐसा कहने का यह प्रयोजन नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास अद्वैतवाद के अनुयायी हैं अथवा उन्होंने इसका प्रतिपादन किया है। यद्यपि स्पष्ट रूप से उन्होंने अद्वैतवाद का विरोध कहीं नहीं किया है तथापि यह कहना असंगत ही होगा कि वे अद्वैतवाद के पोषक हैं। कारण यह है कि उनका साधन-मार्ग शांकर अद्वैतवादियों के साधनमार्ग से सर्वथा भिन्न है। अद्वैत-साधन की चार अवस्थाएँ हैं। १—धारणा २—ध्यान ३—योग ४ समाधि। सर्वप्रथम साधक को नित्य और अनित्य का पूर्णज्ञान प्राप्त करना होता है। इसी के परिणामस्वरूप द्वितीय अवस्था आती है जिसमें साधक पलायनवादी होने लगता है और जब वह पूर्ण वैरागी हो जाता है तभी तृतीयावस्था की उद्भावना होती है। इस अवस्था में उसे निर्विकार होने की अनुभूति होती है। इन तीनों अवस्थाओं को पार कर लेने के पश्चात् अन्त में साधक चौथी अवस्था में प्रवेश करता है जहाँ उसमें मोक्ष की तीव्र इच्छा का प्रादुर्भाव होता है। यहीं उसे 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध होता है जो उसका लक्ष्य है, साध्य है। गोस्वामी जी का साधन मार्ग केवल 'द्विज, देव गुरु, हरि संत' के चरणों की सेवा ही है। उनका कहना है—'जो मारग स्रुति साधु दिखावै, तेहि पथ चलत सबै सुख पावै'[१]। इसे हम केवल भक्ति-मार्ग ही कह सकते हैं जिसमें मोक्ष नहीं, भक्ति ही सर्वोपरि है। इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी ने परमानन्द की प्राप्ति के, पन्द्रह तिथियों के क्रमानुसार, पन्द्रह साधन बतलाए हैं जो इस प्रकार हैं—

१—पक्ष के प्रथम दिन प्रतिपदा के समान प्रथम साधन हैं—प्रेम।

२—द्वितीया के समान दूसरा साधन-अपने-पराए का भेद त्याग कर पृथ्वीमंडल की विचरण और अज्ञान, माया, अहंकार प्रभृति को हटा कर श्री रघुनाथ जी का चिन्तन।

३—तृतीया के समान—त्रिगुणात्मक प्रकृति (सत्त्व, रज, तम) का त्याग।

---

१ विनय० पद १३६ (१२)

४—चतुर्थी के समान–अन्तःकरण चतुष्टाय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) का परित्याग ।

५—पंचमी के समान–पंचेन्द्रियों (शब्द, स्पर्श रस, गंध, रूप) से मुक्ति ।

६—षष्ठी के समान-षड्वर्ग (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य) पर विजय ।

७—सप्तमी के समान–सात धातुओं (त्वचा, रक्त, माँस, अस्थि, मज्जा, मेद, शुक्र) के बने शरीर से परोपकार ।

८—अष्टमी के समान-अष्ट प्रकृति (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार) से मुक्त हृदय की शुद्धि ।

९—नवमी के समान–नौ दरवाजे की नगरी–शरीर—में रह कर अपना उपकार ।

१०—दशमी के समान–दसों इंद्रियों का संयम ।

११—एकादशी के समान–एकवृत्त चित्त से भगवत्-सेवा व आराधना ।

१२—द्वादशी के समान दान-दक्षिणा द्वारा परोपकार ।

१३—त्रयोदशी के समान तीनों अवस्थाओं (जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति) को त्याग कर भगवद्भजन ।

१४—चतुर्दशी के समान–'मेरे-तेरे' के भाव का नाश ।

१५—पूर्णमासी के समान-विषयों से विरक्ति तथा शान्ति, अभिमान-शून्यता तथा ज्ञान में आसक्ति ।

गोस्वामीजी तथा शांकर अद्वैतवाद के सिद्धान्तों का इतना विवेचन पर्याप्त है । इतने ही से हम समझ सकते हैं कि कहीं-कहीं प्रतिभासित होते हुए भी गोस्वामी जी शांकर अद्वैतवाद के पोषक नहीं हैं । उनका दार्शनिक दृष्टिकोण कुछ और ही है ।

अब हमें देखना है कि तुलसी की दार्शनिक विचार-पद्धति विशिष्टाद्वैत अथवा द्वैत मतों के कितने पास और कितनी दूर है । इन दोनों पद्धतियों के सिद्धान्त और साधन की चर्चा 'विनयपत्रिका' में यत्र-तत्र मिल अवश्य जाती है, परन्तु वह इतनी गम्भीर अथवा विशद नहीं है कि तुलसी को हम उनका

अनुयायी सिद्ध कर दें। यदि कहीं इनका अनुसरण अथवा प्रतिपादन मिलता है तो दूसरी जगह उन्हीं का विरोध भी मिल जाता है। यदि माया-सम्बन्धी विचार देखें, तो पाएँगे कि जहाँ विशिष्टाद्वैतवादी तथा द्वैतवादी माया के अस्तित्व को बिल्कुल नहीं मानते वहाँ तुलसी उसे विशेष रूप से मानते हैं। वे स्वयं को माया के बस में और 'राम' को 'मायापति' के रूप में देखते हैं, यथा—'तुम महापति हौं बसमाया'। यही नहीं माया के बस में होने के कारण तुलसी ने अपना स्वरूप तक भुला दिया, यथा—'माया बस स्वरूप बिसरायो'२। विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार जगत ब्रह्म का एक अंश है परन्तु गोस्वामी जी जगत को ब्रह्म का प्रतिरूप ही मानते हैं। द्वैतवाद के अनुसार अचिन्त्य शक्ति का वास विष्णु भगवान में है और गोस्वामी जी के अनुसार इसका निवास-स्थान राम है। द्वैतवादियों के मतानुसार ज्ञान-सुखादि की अन्तर्गति भगवान में होती है और पंचभेद ज्ञान, ईश्वर जीव-भेद, ईश्वर-जड़ भेद जीव-जड़-भेद, जीव-जीव भेद, जड़पदार्थों का पारस्परिक भेद का होना अनिवार्य है। तुलसी के साधन-मार्ग में इनका कोई स्थान नहीं।

सारांश यह कि तुलसी किसी प्रचलित वाद के अनुयायी न होकर अपने स्वमत 'भक्तिवाद' के ही अनुसरणकर्त्ता हैं। इन्हें न तो शंकराचार्य का अद्वैत मान्य है न रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत अथवा मध्वाचार्य का द्वैतवाद। उनकी विचार-पद्धति पूर्णतः किसी भी विचार से मेल नहीं खाती; वह स्वतंत्र है, स्वयंसिद्ध है। वे तीनों मतों को भ्रम कह कर अपने स्वतंत्र मत को प्रतिष्ठित करते हैं। अतः तुलसी के दार्शनिक दृष्टिकोण का लक्ष्य केवल एक ही है—'रामभक्ति'।

---

१. विनय० पद १७७ २. वही, पद १३६

कठोर कैसे हो सकते हैं। यह तो तुलसी का अपना ही दोष है कि राम-भक्ति के प्रति सदा आसक्तिहीन रहे और अपने मन को पापों का कोश बना लिया :—

है प्रभु मेरोई सब दोषु।
सील-सिंधु, कृपालु, नाथ अनाथ, आरत-पोसु ॥१

इसी भाव से सेवक-सेव्य-भाव उदय होता है, जो 'विनय-पत्रिका' में भली भांति विकसित हुआ है। गोस्वामी जी अपने प्रभु को यह विश्वास दिला देना चाहते हैं कि उन्हें, उनके चरणों में, पूर्ण आसक्ति है। वे अपने शरीर को सदा पवित्र तथा स्वच्छ रखते हैं, हृदय में सदा उनके प्रति प्रबलेच्छा निवास करती है और उनका मुख सदा यही कहता रहता है कि सीतापति का सेवक हूं। यथा—

तन सुचि, मन रुचि, मुख कहौं जन हौं सिय पी को ।२

इसी बात को 'मानस' में तो बहुत ही सीधे सादे और स्पष्ट रूप से कहा गया है। यहाँ उनका दृढ़ विचार है कि सेवक—सेव्य भाव के बिना संसार से पार पाना असम्भव है। इसी सिद्धान्त को हृदयंगम करके राम का भजन करना चाहिए यही उनका परामर्श है। यथा—

सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त विचारि ॥३

सेवक-सेव्य भाव का आविर्भाव भक्त की स्वलघुता एवं आलबन की महत्ता की पूर्णानुभूति का मुफल है। भक्त की यही भावना 'विनयपत्रिका' की अमूल्य निधि है। यथा—

(अ) राम सो बड़ो है कोन मोसो कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन मोसौ कौन खोटो ॥४
(ब) कह्यो न परत, बिनु कहे रह्यो न परत,
बड़ो सुख कहत बड़े सों, बलि दीनता।

१ विनय, पद १५६। २ वही, पद २६५। ३ 'मानस' उत्तर० ११६।
४ विनय० पद ७२

प्रभु की बड़ाई बड़ी, आपनी छोटाई छोटी,
प्रभु की पुनीतता आपनी पाप-पीनता ।।१

इस भावना का प्रसार तथा विकास यहाँ तक होता है कि भक्त अपने आराध्यदेव के अतिरिक्त किसी का नाम तक नहीं लेना चाहता। इस प्रकार की अनन्यता में अपनी एक विशेषता है। प्रभु को प्रसन्न करने के लिए भक्त अपनी पूरी शक्ति से यही प्रदर्शित करना चाहता है कि उनके अतिरिक्त उसका और कोई सहारा नहीं है। किसी की विशुद्ध सहायता प्राप्त करने का यही सर्वश्रेष्ठ साधन हैं, और इसीलिए गोस्वामी जी ने इसका प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि भक्त इस प्रकार अपने प्रभु के साथ कोई चाल खेलता है अथवा वह केवल एक दिखावा है। यदि तनिक मनन किया जाये तो स्पष्ट हो जावेगा कि दैन्य भावना का यह एक प्रमुख तत्व है। दास की प्रवृत्ति अपनी भक्ति के आलम्बन के सिवाय और कहीं झुकती ही नहीं। वह सदा उसी में लीन रहना चाहता है; और अन्त में उसी में विलीन हो जाने का प्रयास करता हैं। यह प्रयास ही गोस्वामी जी के मुख से निम्न शब्दों का उच्चारण करवाता है :—

गरैगी जीह जो कहौ और को हौं।
जानकी जीवन ! जनम जग ज्यायो तिहारेहि कौर को हौं।२

जिह्वा ही गल जावेगी यदि कहीं इससे किसी और का नाम उच्चरित कर दिया। इस उत्कट निष्ठा का क्या कहना ! यही भक्ति-सोपान का अन्तिम पद स्थल है जहाँ पहुँच कर भक्त पूर्णतः प्रभु-नाम में रम जाता है, अपने अस्तित्व को उसके अस्तित्व में अभेद रूप से मिला देता है। बाबाजी को इस संसार में यदि किसी का भरोसा है तो वह है केवल राम-नाम का। यह भरोसा ऐसा वैसा नहीं। यह है सुधा के समान अमरत्व प्रदान करने वाला। अन्य सब भरोसे इसके समक्ष गरल के समान प्रतीत होते हैं। इसीलिए गोस्वामी जी को इससे इतना नेह है। देखिए—

१ वही, पद २६२ | २ वही, पद २२६

राम नाम ही सों जोग छेम, नेम प्रेम-पन,
सुधा सो भरोसो एहु, दूसरो जहरु।१

इस अनन्यनिष्ठा की अनुभूति ही भक्ति का मूल तत्व है। जब इस अनुभूति का साक्षात्कार भक्त प्राप्त कर लेता है तभी उसमें इतनी शक्ति आती है कि वह उपालम्भ-रूप प्रभु को कुछ धमकी भी देता है। वह साफ-साफ कह देता है कि मैं तो तुम्हारे सहारे पड़ा हुआ हूँ और आप हैं कि मेरी ओर कुछ ध्यान ही नहीं देते। मेरी ऐसी शरणावस्था में दो में से एक काम तो अवश्य ही करना पड़ेगा। या तो भली प्रकार शरण में रहने दिया जाय अथवा मार ही डाला जाय। यदि इनमें से कोई भी शर्त मंजूर न की गई तो भक्त ऐलान कर देगा कि 'राम-नाम' केवल ढकोसला है, सारहीन है। गोस्वामी जी निम्नांकित पंक्तियों में देखिए कैसी धमकी देते हैं—

'राखिए नीके सुधारि नीच को, डारिए मारि,
दुहूँ ओर की विचार अब न निहोरिहौं।
तुलसी कही है साँची रेख बार बार खांची,
ढील किए नाम-महिमा की नाव बोरिहौं॥२

इस धमकी के साथ ही साथ वे अपने 'राम' को कुछ समझाते भी जाते हैं। समझ तथा बुद्धि का, भक्ति से यही सम्बन्ध है। इसी समन्वय से भक्त अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल हो सकता है। गोस्वामी जी भी इसी का अनुसरण करते हुए 'राम' को समझाते हैं कि लोक-रीति को मानना परमावश्यक है। संसार उन्हें 'राम' का 'दास' मान चुका है। यद्यपि वे राम के नाम का सहारा लेकर केवल अपना उदर-पोषण ही करते हैं तथापि संसार की आँखों में तो वे राम की कृपा के पात्र ठहराये ही जा चुके हैं। अतः वेद के नियमों से पराङ्मुख हो अब उन्हें अपनाना ही पड़ेगा—

नाम की ओट लै पेट भरत हौं, पै कहावत चेरो।
जगत विदित बात है परी समुझिए धौं अपने लोक कि वेद बड़ेरो॥३

१ विनय० पद २५०। २ वही, पद २५८। ३ वही, पद २७२।

अपने आराध्य देव को यह बतलाने में गोस्वामी जी तनिक भी नहीं हिचकते कि उन्हें उनके प्रति संसार की हँसी-मखौल का बहुत ध्यान है। कहीं ऐसा न हो कि जगत यह सोचने लगे कि तुलसी ही ब्रह्म है जिसने 'राम' की बनायी हुई बात बिगाड़ दी। वेद क्या कहते है उन्हें इसकी इतनी परवाह नहीं है जितनी कि संसार की। देखिए—

'रावरी सुधारी जो बिगारी बिगरैगी मेरी,
कहौं, बलि, वेद की न, लोक कहा कहैगो ?१

इस सांसारिक-विचार-पद्धति के साथ-साथ भक्त कभी-कभी मीठा व्यंग भी करता रहता है। एक प्रकार से प्रभु के ऊपर एहसान दिखलाता रहता है। हर तरह वह यही चाहता है कि किसी भी यत्न से, कैसी भी बात बनाकर वह अपना कार्य सिद्ध कर ले—चरण शरण से मोक्ष प्राप्ति। कुछ देर पहले गोस्वामी जी अपने प्रभु को 'माय बाप' कह रहे थे, उनकी कृपा के लिए घिघिया रहे थे; स्पष्ट रूप से घोषणा कर रहे थे कि केवल 'राम' की महिमा सुनकर ही वे उनकी शरण में आए हैं; वे ही उन्हें तार सकते है; और अब चुपके से अपने प्रभु के कान में कहते हैं, कि मैं तो तुम्हारी भक्त-वत्सलता तथा पतित-पावनता के रक्षार्थ यह सब कर रहा हूँ। मेरी तो थोड़ी सी ही बात है वह तो बिगाड़ने पर भी बन जाएगी पर यदि आपने मुझे नहीं उबारा तो आपकी ही कीर्त्ति पर धब्बा लगेगा। यथा—

मेरो तौ थोरो ही है सुधरैगी बिगरियो,
बलि, राम रावरी सौं रही रावरी चहन ।।२

इस ढंग की 'धौंस' और 'धमकी' को भक्ति के चरम लक्ष्य की उपलब्धि का साधन-रूप मान कर चलने वाले तुलसी कर्त्तव्यनिष्ठा में भी विश्वास रखते हैं। वे हाथ पर हाथ रखकर नहीं बैठना चाहते। कभी अपने मन को समझाते हैं तो कभी अपनी जिह्वा को उपदेश देते हैं। इस प्रकार वे अपनी धर्मनिष्ठा तथा अनन्यता का परिचय देते हैं। अपने मन को समझाते हुए बाबाजी कहते हैं कि अरे मन समय बीत जाने पर तुझे पछताना ही पड़ेगा। यथा :—

---

१ विनय० पद २५६। २ वही पद २५६,

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, वचन अरु ही ते ॥१॥
सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते।
हम-हम करि धन-धाम संवारे, अन्त चले उठि रीते ॥२॥
× × × ×
अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषय-भोग बहु घी ते ॥३॥[1]

यहाँ गोस्वामी जी ने मन को, कुछ डरा कर, धमका कर, परबीती का उदाहरण देकर, यह जता दिया है कि अवसर निकल जाने पर हाथ कुछ नहीं लगेगा। इस प्रकार उन्होंने प्रभु के चरणों के प्रति अटूट अनुराग उत्पन्न करने की प्रेरणा दी है। फिर वे उसे, साधन-मात्र भी दिखलाते हैं, जिसके अनुसरण से प्रत्येक प्रकार का भय दूर होता है। निम्नांकित पद में, देखिए, मन को भक्ति के कठिन डगर पर चलने के लिए क्या-क्या संकेत दिये गये हैं—

जौ मन भज्यौ चहै हरि-सुरतरु।
तौ तजि विषय-विकार, सारभजु, अजहूँ जो मै कहौं सोइ करु ॥१॥
सम, संतोष, विचार बिमल अति, सत्संगति, ये चारि दृढ़ करिधरु।
काम-क्रोध अरु लोभ मोह पद राग द्वेष निसेष करि परिहरु ॥२॥
स्रवन कथा, मुखनाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
नयननि निरखि कृपा-समुद्र, हरि अगजगरूप भूप सीतावरु ॥३॥
इतै भगति वैराग्य ग्यान यह हरि-तोषन यह सुभ व्रत आचरु।
तुलसिदास सिव मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिन डर ॥४॥[2]

वे यह स्पष्टतया कह देते हैं कि इस मार्ग पर चल कर किसी का डर स्वप्न में भी नहीं हो सकता। यही नहीं वे यहाँ तक कह डालते हैं कि 'हरि' का सहारा मिल जाने पर 'संसार' का कपट-जाल तक उन्हें अपने बन्धन में नहीं बाँध सकता। वे बड़े निडर होकर कहते हैं—

मैं तोहि अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकहि मोहि, हरि के बल, प्रगट कपट-आगार ॥३

१ विनय० पद १६८। २ वही, पद २०५। ३ वही, पद १८८।

और इसीलिए गोस्वामी जी अपने 'राम' को निष्कपट स्वभाव वाला, दुखहारी तथा शरणागत पालक मानते हैं। सब आशाएँ त्याग कर केवल उन्हीं का भजन करने का सुझाव देते हैं—

नाहिंन और कोउ सरन लायक दूजो श्री रघुपति-सम विपति-निवारन।
काको चहज सुभाउ सेवक बस, काहि प्रनत पर प्रीति अकारन॥

\+ + + +

जाको जस गावत कवि कोबिद, जिनमे लोभ मोह मद मार न।
तुलसिदास तजि आस सकल भजु, कोमलपति मुनिबधू उधारन॥[1]

क्या ये चार पंक्तियाँ ही बाबा जी की, अपने 'राम' के प्रति, अनन्य भक्ति की द्योतक नहीं हैं? इन शब्दों में भरी हुई अनन्य निष्ठा, भक्त के हृदय की प्रशस्त भावनाओं की साधना है; उसकी मनोभूमि पर लहलहाती हुयी अमरबेलि है। सब ओर से नेत्र हटा कर भक्त अपने आराध्य देव की ही ओर आशा पूर्ण टकटकी लगाना चाहता है। उसके लिए अन्य कोई ऐसा सहारा नहीं है जो अकारण ही शरण देने को तैयार हो। ऐसे प्रभु के द्वार पर पड़ जाने से सब कुछ प्राप्त हो जावेगा। यही सोच कर गोस्वामी जी अपने प्रभु से कहते हैं—

द्वार हौं भोर ही को आज।
रटत रिरिहा, आरि और न, कौर ही तें काज॥

\+ × × ×

जनम को भूखो भिखारी हौं गरीब-निवाज।
पेट भरि तुलसिहि जेंवाइय भगति-सुधा-सुनाज॥२

गोस्वामी जी अपने मन को साधन-मार्ग दिखा कर अथवा अपने शीलवान प्रभु के द्वार पर पड़ कर केवल भक्ति की भिक्षा ही नहीं माँगते, वे अपनी जीभ से 'राम-नाम' की सतत रटना का भी आग्रह करते हैं। दूसरों की निन्दा के प्रसंगों का परित्याग करके राम शब्द उच्चारण करने का अनुरोध करते हैं। इस प्रकार वे अपने कल्याण का और जीभ के यश-लाभ का मार्ग खोज लेते हैं। यथा :—

---

१ विनय० २०६, २ वही, पद २१६

(१) काहे न रसना, रामहिं गावहि ?
निसदिन पर-अपवाद वृथा कहि रटि-रटि राग बढ़ावहि ॥१॥
× + + ×
बाद-बिबाद स्वाद तजि भजि हरि सरस चरित चित लावहि ।
तुलसिदास भव तरहि, तिहूँ पुर तू पुनीत जस पावहि ॥५॥[१]

(२) राम जपु, जीह ! जानि प्रीति सो प्रतीति मानि ।
राम नाम जपे जैहै जिय की जरनि ॥[२]

इस प्रकार भक्त अपने प्रत्येक अङ्ग से राम की सेवा तथा राम राम व राम नाम की ध्वनि श्रवण करने की प्रत्याशा तथा प्रयत्न करता है। यही राम-भक्ति के सोपान की अन्तिम कड़ी है जिस पर पहुचने को गोस्वामी जी अनवरत रूप से प्रयत्नशील रहे हैं।

यहाँ वे गीता मे भगवान के श्रीमुख से उच्चरित शब्दों का शब्दशः अनुसरण करते जान पड़ते हैं। यथा—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परा शान्ति स्थान प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥[२]

अर्थात् 'सब प्रकार उस परमेश्वर की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो, उस परमात्मा की कृपा से ही तू परम शान्ति और सनातन परम धाम को प्राप्त होगा।' इस प्रकार गोस्वामी जी लज्जा, मद, मान, आसक्ति सभी का त्याग कर और शरीर एवम् संसार मे अहम्भाव, एवम् ममता से रहित होकर केवल एक 'राम' को ही परम आश्रय और सर्वस्व समझते हैं। अनन्य भाव से अतिशय श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निरन्तर 'राम' के नाम का चिन्तन करते रहना ही वे भक्त का परम उद्देश्य मानते हैं।

आशा तथा प्रतीक्षा भक्त की परम विशेषताएँ हैं। भक्त अपने मन को वश मे करके, उसे आदेश-रूप अन्य विहारों से पृथक होकर, केवल राम-भक्ति की ओर संलग्न होने का उपदेश देता है, अपनी जिह्वा से केवल राम-नाम ही

१ विनय० पद २३७ २ वही, पद २४७। २ गीता, अध्याय १८, श्लोक ६२।

रटने का आग्रह करता है, अपने आप को संसार की असत्य भूमि की असारता से पृथक रख कर भी उससे भिन्न होने का पाठ पढ़ाता है; और सदा व्याकुल नेत्रों से अपने प्रभु की बाट ही जोहता रहता है। वह मयूर की भांति गगन की ओर निहार कर नाचता रहता है और कभी-कभी अपने पैरों की ओर देख कर रोने भी लगता है। जब भक्त अपने हृदय में झाँकता है, उसे अपनी पंकिल दशा का कटु अनुभव होता है। यही अनुभव उसे भक्ति-मार्ग पर तेज कदम बढ़ाने को प्रेरित करता है। भक्त रोता है, घिघियाता है, द्वार पर 'भिखारी' की भाँति गिर कर भक्ति-याचना करता है। वह जानता है कि राम-भक्ति अति कठिन है :—

रघुपति भक्ति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई ॥१

वह यह भी जानता है कि राम से विमुख होकर इस भवसागर से पार होना सब यत्नों के परे है :—

संजम जप तप नेम धरम ब्रत बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास भवरोग रामपद प्रेमहीन नहिं जाई ॥२

और इसीलिए चुप चाप इस बात की प्रतीक्षा करता है कि देखें प्रभु अपने चरणों का दर्शन कब देते हैं। वह अपने आराध्यदेव से पूछता है—

कबहिं देखाइहौ हरि, चरन ?३

बाबाजी को इस बात का पूरा ज्ञान था कि असभ्यों की भाँति चिल्लाते हुए भिक्षा माँगना, अपना अनादर करना ही है। वे एक भक्त-रूप सभ्य भिक्षु थे जिन्हें भक्त की गतियों की पूर्ण अनुभूति थी। वे अपनी दीनता, लघुता, क्षुद्रता का विशद वर्णन करते हुए कल्याण की याचना करते हैं। उनका कल्याण तभी होता है जब आराध्यदेव कौशलपति श्रीरामचन्द्र जी 'सुधि मैं हूँ लही है'४ कह देते हैं। इस भांति की प्रभु-महत्व एवम् आत्म-लघुत्व की अनुभूति का प्रकाशन ही 'विनय-पत्रिका' है। इस अनुभूति के साथ-साथ प्रेम-भावना समन्वित आदरपूर्ण याचना ही भक्ति है जो 'विनय पत्रिका' की भूमि है।

१ विनय० १६७। २ वही, ८१। ३ वही, २१८। ४ वही, पद २७६,

इतनी समीक्षा करने के उपरान्त यह कह देना भी आवश्यक है कि तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' में प्रतिपादित भक्ति नवधा-भक्ति ही कही जा सकती है, जिसके लक्षण उन्होंने 'मानस' में इस प्रकार दिये हैं—

नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगत संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरुपद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन, करै कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजनु सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातव सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक कर लेखा॥
आठव जथा लाभ-संतोषा। सपनेहुं नहि देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥
नवमहुं एकौ जिन्हके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे॥१

उक्त पंक्तियों में जिन लक्षणों तथा साधनों का निर्देश हुआ है उनका प्रतिपादन 'विनय-पत्रिका' में पर्याप्त सीमा तक उपलब्ध है। इसमें सर्वप्रथम है 'संतन्ह कर संगा'। 'विनय-पत्रिका' में अनेक स्थलों पर गोस्वामी जी ने संतों के सत्सङ्ग का सुप्रभाव बड़े ही विशद तथा प्रशस्त रूप में प्रस्तुत किया है। वे श्री रंग से सत्सङ्ग की ही माँग करते हैं क्योंकि, उनके अनुसार, इसी के द्वारा उनकी प्राप्ति हो सकती है—

"देहि सतसंग निजअंग श्रीरंग। भवभंग-कारन सरन-सोकहारी"२

गोस्वामी जी केवल इसी जन्म के लिए सत्सङ्ग की कामना नहीं करते; वे 'राम' से प्रार्थना करते हैं कि उनका जन्म कहीं भी हो, बारंबार उन्हें भक्ति और सन्तों का ही सङ्ग प्राप्त हो—

यत्र कुत्रापि मम जन्म-निजकर्मवस भ्रमत जग-जोनि संकट अनेकम्।
तत्र त्वद्भक्ति-सज्जन-समागम सदा भवतु मे राम, विस्राममेकम्॥३

वे इस कामना तथा प्रार्थना का कारण भी स्पष्ट कर देते हैं। उनका

१ मानस अरण्य, ३४-२५। २ विनय० पद ५७। ३ वही, पद ५७।

बहुमत सुनि बहु पन्थ पुरानन जहां तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहि लागत राजडगरो सो ।।१

गुरु ने गोस्वामीजी को केवल राम-भक्ति का ही मार्ग नहीं दिखाया था अपितु उनके अन्तर में एक ऐसी लौ भी जाग्रत करदी थी जिसके प्रकाश में उन्हें गुरु के अस्तित्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ। जिस प्रकार ज्ञान के बिना संसार से पार होना असम्भव है, उसी प्रकार गुरु की करुणा बिना ज्ञानोदय सम्भव नहीं—

तुलसिदास हरि गुरु करुना बिनु विमल विवेक न होई।
बिनु विवेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई ।।२

भक्त के लिए उसके आराध्यदेव का नाम ही सर्वशक्तिमान होता है। उसे केवल नाम में ही वह आधार मिल जाता है जिसके सहारे वह पूर्ण विश्वास के साथ मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर होता चला जाता है। गोस्वामी जी के लिए तो राम-नाम के समान पतित-पावन कोई दूसरा है ही नहीं। यदि पापी से पापी मनुष्य भी स्नेहपूर्वक राम-नाम का उच्चारण करने लगे तो कोई कारण नहीं कि वह ज्ञान और भक्ति से प्रफुल्लित न हो उठे। राम-नाम का प्रभाव ही कुछ ऐसा है। इसीलिए वे कहते हैं—

सदा राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु, राम जपु मूढ़ मन, बार बारं।
सकल सौभाग्य-सुख खानि जिय जानि सठ, मानि विस्वास बद बेदसारं ।३

गोस्वामी जी का विश्वास है कि जब तक राम-नाम का भजन नहीं किया जावेगा, संसार के भौतिक, दैहिक तथा दैविक रागों से मुक्ति नहीं मिल सकती। राम-नाम से भक्त का वही सम्बन्ध होता है जो जल से मछली का :—

राम, राम, राम जीव जोलौ तू न जापिहै।
तो लौं तू कहूँ जाहि तिहूँ ताप तापिहै ।।
तुलसी तिलोक, तिहूँ काल तोसे दीन को।
राम-नाम ही की गति जैसे जल-मीन को ।।४

---

१ विनय० पद १७३। २ वही, पद ११५। ३ वही, पद ४६।
४ वही पद ६८।

भक्त का यह विश्वास भी उल्लेखनीय हैं :—

राम-नाम सों विराग जोग जप जागि है ।१

और इसीलिए वह हाथ उठा-उठा कर घोषणा करता है कि केवल राम-नाम ही उसके लिए लाभप्रद है। उसकी अनाथावस्था में वही एकमात्र सहारा है :—

नाम राम, रावरोई हित मेरे ।
स्वारथ परमारथ साथिन्ह सों भुज उठाइ कहौं टेरे ।।
जननी जनक तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहू सृज्यो अवडेरे ।।
मोहुं सो कोउ-कोउ कहत रामहि को, सो प्रसंग केहि केरे ।।२

राम-नाम में छुपी हुई शक्ति का प्रभाव, विशेषरूप से 'कलिकाल' में, गोस्वामी जी के लिए नौका के समान है जिसके सहारे वे संसारसागर को पार कर सकते हैं। कलि की शक्ति को क्षीण बनाने में केवल राम-नाम ही समर्थ है। इसीलिए राम-नाम तुलसी के जीवन का आधार है। कलि ने अपनी क्रूर शक्ति के बल पर योग-नियम, योगाभ्यास और समाधि को निगल सा लिया है। इन सब के अभाव में केवल राम-नाम ही मुक्तिहेतु एक साधन है :—

राम जपु राम जपु, राम जपु, बाबरे ।
घोर-भव-नीर-निधि नाम निज नावरे ।।
एक ही साधन सब रिद्धि सिद्धि साधिरे ।
ग्रसे कलि-रोग संजम समाधि रे ।।३

अतः बाबाजी को केवल राम-नाम का ही भरोसा है। उनके लिए यही कल्पतरु के समान सर्वेच्छा-पूरक है। यद्यपि कर्म-काण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञान-काण्ड तथा वैदिक सिद्धान्तादि सभी भले हैं, तथापि गोस्वामी जी के लिए केवल राम-नाम ही एक सत्य है जिससे कल्याण की आशा की जा सकती है:—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान करो ।
करम, उपासन, ग्यान, वेदमत सो सब भाँति खरो ।

१ विनय० पद ७० । २ वही पद २२७ । ३ वही, पद ६६

मोहि तो 'सावन के अंधहिं' ज्यो सूझत रंग हरो ॥···
संकर साखि जो राखि कहौ कछु तो जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम-नामहिं तें तुलसिहिं समुझि परो ॥१

उक्त पद की अन्तिम दो पंक्तियों में तुलसीदास की रागपूर्ण भक्ति का अति व्यापक प्रस्फुटन हुआ है। शंकर की साक्षी लेकर वे यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि राम-नाम में उनकी अटूट आसक्ति तथा श्रद्धा है। यही कारण है कि गोस्वामी जी राम के नाम को ही अपना माता-पिता, सम्बन्धी, गुरु, स्वामी, मित्र, सखा, सभी कुछ मानते हैं। यथा—

राम, रावरो नाम मेरो मातु-पितु है।
सुजन, सनेही, गुरु, साहिब, सखा सुहृदय,
राम-नाम-प्रेम-मन अबिचल बितु है ॥२

ऐसे राम की गुलामी को वे सहर्ष स्वीकार करते हैं। निम्नांकित पद में उनकी प्रेमानन्यता का बड़ा ही दृढ़ प्रमाण मिलता है। यहाँ गोस्वामी जी अपनी अनन्यता पर शर्त तक लगा देते हैं। वे कहते हैं कि यदि उनके इस कथन में त्रुटि हो तो वे उन्हें कठोर से कठोर दण्ड दें और यदि यह कथन सत्य हो तो वे पंचों के मध्य उन्हें केवल भक्त होने का प्रमाण-पत्र दे दें :—

खोटो खरो रावरो हौं, रावरे सों झूठ—
क्यों कहौंगो, जानो सब ही के मनकी।
करम बचन हिए कहौं न कपट किए,
ऐसी हठ जैसी गांठि पानी परे सनकी ॥
दूसरो भरोसो नाहिं, बासना उपासना को,
बासव, विरंचि, सुर, नर, मुनिगन की।
स्वारथ के साथी मेरे हाथी स्वान लेवा देई,
काहू तो न पीर रघुबीर दीन जनकी ॥
साँप सभा साबर लबार भप्र देव दिव्य,
दुसह साँसति कीजै आगे ही या तनकी।

१ विनय० पद २२६। २ वही, पद २५४।

साँचे परौं पाउँ पान, पंचन मे पन प्रमान,
तुलसी-चातक आस रामश्याम घनकी ॥१

इसी भावना को हृदयंगम करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने राम-नाम में पूर्णासक्ति का अति प्रशस्त प्रदर्शन किया है। एक ही पद में राम-नाम के समस्त गुणों का समन्वय आत सफलता से हुआ है। इसके प्रभाव से कलि से छुटकारा प्राप्त करना, योग, जपादि का जाग्रत होना, बड़ा ही आसान हो जाता है। नवधा-भक्ति के नाना लक्षणों की व्यंजना निम्नांकित पंक्तियों में कितने स्वस्थ और सुन्दर ढङ्ग से हुई है :—

१. राम-नाम को प्रभाव जानि जूड़ि आगि है।
सहित सहाइ कलिकाल भीरु भागिहै॥
राम-नाम सों बिराग जोग जप जागिहै।
बाम बिधि भाल हू न कर्म दाग दागिहै॥
राम-नाम मोदक सनेह-सुधा पागिहै।
पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागिहै॥२.....

२. जो मन लागै रामचरन अस।
देह गेह सुत वित्त कलभ महँ मगन होत बिनु जतन किए जस॥
द्वन्द्व रहित, गतमान ग्यानरत.....
सर्वभूत-हित निर्व्यलोक चित भगति प्रेम दृढ़ नेम एकरस।१

३. जो मन भज्यो चहै हरि-सुरतरु।
तौ तजि विषय-बिकार, सार भजु अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु॥
सम संतोष विचार विमल अति, सतसंगति, ये चारि दृढ़ करि धरु।
कामो-क्रोध अरु लोक-मोह मद राग द्वैष निसेष करि परिहरु॥
स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
इन्हें भगति वैराग्य ग्यान यह हरि-तोषन यह सुभ व्रत आचरु॥२

अतः हम निःसंकोच रूप से कह सकते हैं कि तुलसी की 'विनय-पत्रिका' रामोच्चारित नवधा भक्ति के सर्वगुणों से सम्पन्न, भक्त के उदात्त हृदय की प्रेममयी अविरल भावनाओं का भाण्डार है।

१ विनय०पद ७५। २ वही, पद ७०। ३ वही, पद ७५। ४ वही, पद २०५।

विनयपत्रिका में गीति-तत्व

गीतोद्भावना के अपेक्षित तत्व—गीत, काव्य का अति माधुर्यपूर्ण अंग है। गीत में मधुरिमा का समावेश प्रचुर मात्रा में होता है। आत्मगत् मधुर भावनाओं के संगीतात्मक प्रस्फुटन का नाम ही गीत है। गीतों का साहित्य में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। संगीत को गीत का पूरक तथा अपरिहार्य अङ्ग माना जाता है। कारण यह है कि गीत, छन्द एवम् संगीत से बंधा हुआ चलता है। इन दो गुणों के अभाव में यह कोरा गद्य रूप ही रह जाता है। संगीत समन्वित उद्गारों के प्रकाशन को ही हम काव्य कह सकते हैं; और इस प्रकाशन एवं आत्मानुभूति की सरल, सूक्ष्म, तथा तीव्र गतियों की अन्तर-भावात्मक सुकुमारता और सुषमा के मधुर सामंजस्य को ही गीत।

गीत का सम्बन्ध अन्तर्जगत से है। सरल आत्माभिव्यक्ति ही इसे अनुप्राणित करती है। गीतिकार अपनी भावनाओं के प्रकाशनार्थ, अलङ्कारों में उलझने का प्रयास नहीं करता; उसके तीव्र भाव सहज रूप से वाह्यजगत से साक्षात्कार करते हैं। उन्हें किसी भांति की सजावट अथवा बनावट की आवश्यकता नहीं होती।

अलंकरण से मुक्त, सहज एवं सूक्ष्म भावों का उद्वेलित, अन्तर से तीव्र उद्बोधन और उसका संगीत से योग, गीतों के लिए अनिवार्य है। यदि

संगीत नहीं तो कुछ नहीं। यही गीतों की शक्ति है, उसका प्राण है। हृद्तंत्री के तारों में झनझनाहट उत्पन्न कर देने की क्षमता केवल संगीत में ही है। अन्तर की कोमल भावनाओं को तन्द्रिल कर देने का गुण ही गीत की संगीतात्मकता का साध्य है।

गीतों के लिए लघु होना अति आवश्यक है। लघुता से तात्पर्य यह नहीं है कि इस गुण का समावेश करने में भावाभिव्यक्ति के वेगपूर्ण प्रवाह को बाँध दिया जावे। लघुता अपेक्षित होती हैं गाने के कारण। साथ ही साथ प्रभाव एवं सूच्य शक्ति के प्रति भी ध्यान रखना अनिवार्य होता है। पदों के गेय होने के लिए यह पहली आवश्यकता है कि वह छोटा हो। छोटे होने से केवल यही अर्थ नहीं कि पद में पंक्तियाँ कम हों। इसका अर्थ यह भी है कि शब्दों का प्रयोग इस प्रकार का हो कि साँस लेने में सुविधा हो। लम्बे लम्बे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसी के साथ यह भी कह देना ज़रूरी है कि गीतों में अति कोमल शब्दों का प्रयोग होना अनिवार्य है। परुष शब्द गीतों की गीतात्मकता को बड़ी ठेस पहुँचाते हैं। कोमल पदावली कर्णप्रिय होने के अतिरिक्त मानव की रागानुभूति को स्पर्श करती है, उद्वेलित करती है और उसमें अतीव मधुरिमा का संचार करती है। केवल कोमल शब्दावली के प्रयोग से ही गीत की उत्पत्ति नहीं हो जाती; उसके लिए कोमल तथा मधुर भावों का होना भी अत्यावश्यक है। यदि भाव कर्कश अथवा कठोर हुए तो भी गीतों का आविर्भाव नहीं हो सकता। अतएव भावस्वरूप एवं भावाभिव्यंजना का मधुर सामंजस्य ही गीतोत्पादन है।

गीतों की एक बड़ी विशेषता समभाव-प्रदर्शन भी है। गीत में भाव की एकरसता रहती है। आरम्भ में जो भाव होता है वही अन्त तक रहता है। इस समभावीय प्रदर्शन की तीन गतियाँ होती हैं—प्रारम्भ-गति, तुमुल गति, अवसान-गति। प्रारम्भ-गति में गीतिकार अपनी मूले भावना का परिचय देता हुआ अपने भावों को प्रसार देता है। इस अवस्था में भावोद्रेक अधिक गहरा अथवा तीव्र नहीं होता। केवल परिचयात्मक अवस्था में ही, अपेक्षित, प्रारम्भ तुमुल गति का जन्मदाता है। इस गति में कवि की भावना प्रपात की प्रचंड लहरों की भाँति हृदय से निकल बड़े वेग से बहने लगती है। यही वह अवस्था

होती है जब कि गीत के विशुद्ध रूप की अवगति होती है। इसी अवस्था के अन्तर्गत गीतिकार की प्रत्येक चेष्टा, प्रवृत्ति, श्रद्धा, अपने विकसित रूप में हमारे सामने आती हैं। वह अपनी भावप्रवणता के वशीभूत हो कर अपने स्वच्छन्द उद्गारों को स्वतन्त्र रूप से बहने का सामर्थ्य प्रदान कर देता है। गीतिकार की भावनाओं के इस अतिरेक में तीन गुण अनिवार्य हैं—अबाधता, तीव्रता तथा गूढ़ता। इस प्रशस्त, उन्मुक्त एवम् उद्वेलित भावोन्मीलन के उपरान्त वह दशा आती है जबकि कवि की भावनाएँ पुनः अपने सहजरूप में बहने लगती हैं। इन तीनों गतियों को यदि एक झरने की तीन गतियाँ कहा जाय तो असङ्गत न होगा। झरना पहाड़ी से जिस समय निकलता है उसमें तीव्रता अवश्य होती है परन्तु उतनी गड़गड़ाहट, उतनी उथल-पुथल और उतनी प्रबलता नहीं होती जितनी कि धरती से मिलने की द्वितीयावस्था में। अपनी अवसान गति में झरना पुनः अपने मधुर प्रवाह को प्राप्त कर लेता है। हृदय से भावों का प्रस्फुटन अति उद्रेकपूर्ण गति से होता है, प्रवाह की तीव्रता अपने चरम तक पहुँच कर अति सहज एवम् सरल गति से अपने लक्ष्य में लय हो जाती है।

बाबू श्यामसुन्दरदास के मतानुसार 'गीतिकाव्य में कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है और बाह्य जगत को अपने अन्तःकरण में ले जाकर उसे अपने भावों से रंजित करता है। आत्माभिव्यंजना-सम्बन्धी कविता गीतिकाव्य में ही छोटे-छोटे गेय-पदों में मधुर भावनापन्न, आत्मनिवेदन से युक्त स्वाभाविक भी जान पड़ती है। उसमें शब्द की साधना के साथ-साथ स्वर (संगीत) की भी साधना होती है। भावना सुकोमल होती है और एक-एक पद में पूर्ण होकर समाप्त होजाती है। कवि उसमें अपने अन्तर्तम को स्पष्टतया दृष्टव्य कर देता है। वह अपने अनुभवों और भावनाओं से प्रेरित होकर उनकी भावात्मक अभिव्यक्ति कर देता है।' इस मत के अनुसार भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीत भावावेश के साथ-साथ सगीतात्मकता को लिए हुए चलता है; आत्माभिव्यक्ति के कोमल शरीर को सूक्ष्मता के झीने परदे से ढँके रहता है। इसी मत को श्रीमती महादेवी वर्मा भी अपने शब्दों में व्यक्त करती हुयी कहती हैं कि 'सुख-दुख के भावावेशमयी अवस्था का

विशेष गिनेचुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।.....गीत यदि दूसरे का इतिहास न कह कर वैयक्तिक सुख-दुख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं।' इनके कथन में विशेष रूप से चार बातें ध्यान देने योग्य हैं—प्रथम तो यह कि अभिव्यक्ति 'विशेष' शब्दों में हो, द्वितीय कि शब्द गिने चुने हों, तृतीय कि चित्रण संगीतात्मक हो और चतुर्थ यह कि अभिव्यक्ति वैयक्तिक भावनाओं की ही हो, अन्य के अन्तःकरण की अवस्था सम्बन्धी नहीं। विशेष शब्दों से अभिप्राय यह है कि शब्द कोमल, मधुर तथा प्रसङ्गानुकूल हों। गिने-चुने शब्दों से मतलब है कि भावाभिव्यक्ति कम-से-कम शब्दों में ही की जाये। दूसरे शब्दों में, गीत संक्षिप्त हों जिनमें शब्दों का चयन सहज एवम् सुव्यवस्थित रूप से हो।

गीति में सुकुमार एवम् हृदयस्पर्शिनी भावनाओं की अभिव्यंजना होने के नाते, कोमल रसों का ही प्रयोग अपेक्षित है। गीति के लिए शृङ्गार, वात्सल्य तथा शान्त रस ही उपयुक्त हैं। शृङ्गार रस के दो पक्ष होते हैं—संयोग और विप्रलंभ। गीति के लिए संयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ अधिक उपयुक्त है। इसका कारण है विप्रलम्भ-दशा का गीतिरूप में हृदय पर प्रभाव। यह तो सर्वमान्य है कि करुणा मानव हृदय में सहानुभूति का संचार करने में सफल रहती है; और इसीलिए गीतिकाव्य के लिए शृङ्गार का विप्रलम्भ पक्ष ही अधिक उपयोगी माना जाता है। वीर रस में भी कुछ गीति-काव्य लिखा गया है। परन्तु उसमें गीत को मधुरिमा का अभाव है। कारण है कोमल शब्द के स्थान पर परुष शब्दों का प्रयोग।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि गीतिकाव्य काव्य का वह प्रमुख अङ्ग है जिसमें कवि की मधुर भावनाओं की अभिव्यक्ति और उसकी अनुभूतियों की अभिव्यंजना, कोमल, सरस शब्दों द्वारा एक सीमा बाँधती हुयी चलती है। वस्तुतः गीतिकाव्य की विशेषताएँ हैं—सङ्गीतात्मक आत्माभिव्यक्ति, अन्तर्जगत का सहज प्रकाशन, संक्षिप्तता, कोमल शब्दो का चयन, सुकुमार एवम् सरल भाषा द्वारा भावस्वरूप एवम् भावाभिव्यंजना का मधुर

लय, एक रसता जिसकी तीन स्पष्ट गतियाँ हों—प्रारम्भ, तुमुल, अवसान शृङ्गार, वात्सल्य और शान्त रसों का प्रयोग, और गीतात्मा का मानव-हृदय पर सीधा प्रभाव।

गीतिकाव्य की परम्परा में विनयपत्रिका का स्थान—गीति-काव्य का आविर्भाव कोई दसबीस या पसाच वर्ष पुरानी घटना नहीं है; उसका आविर्भाव वेदों के साथ-साथ ही हुआ है। वेद अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ हैं जो सङ्गीतात्मक एवम् भावात्मक मन्त्रों से ओतप्रोत हैं। इन वेदों में, विशेषरूप से ऋग्वेद में, ऋचाएँ मिलती हैं जो भावों का मधुर भाण्डार जान पड़ती हैं। इन ऋचाओं में उषा पर लिखी गयी ऋचाएँ विशेषतः गीतिमय हैं। इनमें 'यजन गौरव', 'मान' आदि के लिए प्रार्थना की गयी हैं। कल्पना, भावादि का अलौकिक दर्शन करवाया गया है। सामवेद में भी हम अनेक सुन्दर और मधुर गीतों का समावेश पाते हैं। ये गीत वे मन्त्र हैं जो यज्ञादि के शुभ अवसरों पर गाए जाते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीतिकाव्य की धारा सहस्रों वर्ष पूर्व वैदिक साहित्य के प्रथम चौरस मैदान में बहकर अनेक संकीर्ण गुहाओं को पार करती हुयी अपने उस युग की ओर बढ़ी जिसे हम गीतिकाव्य का स्वर्णयुग कह सकते हैं।

वेदों की गीतात्मक ऋचाओं के पश्चात् हम उस युग में आते हैं जब महर्षि बाल्मीकि के समय के उपरान्त गीतों में काव्योचित भावों के स्थान पर सङ्गीत प्रमुख माना जाने लगा। आगे चलने पर हम देखते हैं कि केवल नाटकों में ही यत्र-तत्र गीतों की रचना होती थी; और वह भी केवल गाकर उन्हें अधिक रोचक बनाने के हेतु।

धीरे-धीरे संस्कृत के स्थान पर प्राकृत भाषा प्रयुक्त की जाने लगी। यही वह भाषा है जिसमें पहली बार लोकगीतों का जन्म हुआ था। आगे चल कर हिन्दी गीतिकाव्य का सृजन इसी आधारशिला पर हुआ। प्राकृत भाषा लोक भाषा बन चुकी थी। यह भाषा इतनी प्रिय तथा प्रभावशालिनी थी कि संकृत के नाटकों में भी उसी भाषा में गीत लिखे गये हैं। इन नाटकों में मुख्य ये हैं—मेघदूत, अभिज्ञान शाकुन्तल तथा विक्रमोर्वशीय।

जब धीरे-धीरे प्राकृत भाषा साहित्यिक भाषा का रूप पाने लगी तब

अपभ्रंश ने लोकभाषा की गद्दी सँभाली। अपभ्रंश का साहित्य बौद्ध धर्म के अनुयायी सिद्धों तथा जैन आचार्यों ने ही दिया; परन्तु जहाँ तक गीति-काव्य का प्रश्न हैं, योगमार्गी सिद्ध अपना विशेष महत्व रखते हैं।

विक्रम की चौदहवीं शताब्दी तक एक 'नाथ पन्थ' प्रचलित रहा। हिंदी साहित्य में सन्त सम्प्रदाय का आविर्भाव इसी नाथ पन्थ द्वारा हुआ। इस सन्त सम्प्रदाय ने गीतिकाव्य में एक नूतन रस का संचार किया। अब तक स्वतन्त्र गीतिकाव्य की रचना नहीं हुयी थी। बारहवीं शताब्दी में जयदेव ने 'गीति-गोविन्द' रच कर हिन्दी साहित्य में एक अजीब उथल-पुथल मचा दी। इनके 'गीति गोविन्द' में ऐसे गीतों का सृजन हुआ जिनमें अतीव मधुरता, सुकुमारता, लालित्य तथा कोमल-भावनाओं की अभिव्यंजना एक अनोखे रूप से हुयी। इन गीतों का हिन्दी गीति-काव्य के उन्नायकों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे गीतों के रचने में तन्मय से हो गए। इनमें प्रमुख नाम विद्यापति का है।

हिन्दी गीतिकाव्य को वस्तुतः तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है—आदि काल, मध्य काल तथा आधुनिक काल। इन तीनों कालों पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि मध्य-काल हिन्दी गीति काव्य का स्वर्ण काल कहा जा सकता है। यही वह काल है जिसमें सूरदास तथा तुलसीदास जैसे भक्त कवियों ने अपनी दिव्य एवम् मधुर वाणी द्वारा सङ्गीत से परिपूर्ण ललित गीतों को गाकर हिन्दी गीति-काव्य को अमरता प्रदान की। आदि काल में जो गीत रचे गए उनका उद्देश्य तथा उनकी आत्मा वास्तविक गीत के उद्देश्य तथा आत्मा से नितान्त भिन्न थी। उन गीतों में वीर रस का सर्वत्र प्रयोग किया गया है जो कि गीतों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। इन गीतों का उद्देश्य था वीरों को उत्साह प्रदान करना। आत्माभिव्यंजना द्वारा 'स्वांतः सुखाय' की पूर्त्ति करना नहीं। यदि गीतों के कलेवर एवम् अन्तरतम् को दृष्टि में रखते हुए इन गीतों को देखा जावे तो मेरे विचार से उन्हें गीत की श्रेणी में रखना उपयुक्त न होगा। मध्ययुग पर दृष्टि डालने से पूर्व हम इतना अवश्य कह देंगे कि गीति-काव्य का उज्ज्वल एवम् परिपक्व रूप आधुनिक-काल में ही मिलता है जिसमें प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा,

पन्त आदि अग्रगण्य हैं। गीत का वास्तविक रूप इसी काल में देखने को मिलता है। परन्तु यह कहना कि मध्यकाल में गीतों का वास्तविक रूप नहीं मिलता—भूल होगी। क्योंकि सूरदास, मीरा आदि के गीतों में जो आत्माभिव्यंजना, सुकुमारता, सरसता तथा संगीतात्मकता मिलती है वह अन्यत्र नहीं।

मध्य युग में गीति-काव्य की रचना ऐसे पदों में हुयी जो राग-रागिनियों से जकड़े हुए थे। इन पदों में दो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—निर्गुणोपासना में प्रेम समन्वित भावना और सगुणोपासना में भक्ति समन्वित भावना। प्रथम प्रवृति में रहस्यवाद की अभिव्यंजना मिलती है। ऐसे गीतों के रचयिता सन्त कवि थे जिनमें कबीर, दादू, नानकादि प्रमुख हैं। द्वितीय प्रवृत्ति भक्त कवियों में मिलती है जिन्होंने राम तथा कृष्ण की भक्ति में तन्मय होकर अनेक रागपूर्ण सहज गीतों को गाया है। इनमें सूरदास, मीरा तथा तुलसी मुख्य हैं।

जिस प्रकार सूर का 'सूरसागर' विशुद्ध गीतों का भाण्डार है, उसी प्रकार 'विनयपत्रिका' तुलसीदास के आत्मबोध एवम् आत्मनिवेदन से युक्त गीतों का अपरिमित निलय है। तुलसी के गीत लौकिक वियोग अथवा संयोग की रागात्मक अनुभूति की करुण-मधुर व्यंजना नहीं, वरन् आराध्य-आराधक के पारलौकिक, पुनीत रागात्मक सम्बन्ध की गम्भीर अनुभूति के अनुपम प्रतीक हैं। अपने समकालीन गीतिकारों में केवल मीरा के गीत तुलसी के पर्याय माने जा सकते हैं। जो अन्तर्वेदना, आत्मानुभूति, आत्मलघुत्व तथा दैन्यभाव तुलसी के गीतों में मुखर हुआ है उसी की व्यंजना मीरा के गीतों की विशेषता है। सूर के गीत तुलसी के गीतों से अपनी आत्मा में भिन्न हैं। सूर ने अधिकांश रूप में स्वगत-भावों अथवा अन्तर्वेदना को अपेक्षा गोपिकाओं के अन्तःकरण तथा ब्रजवासियों की आकुल भावनाओं का ही चित्रण किया है। अतः सूर के गीत स्वगत् न होकर अन्यपरक हैं।

तुलसी से पूर्व हिन्दी-गीति के मुख्य प्रणेता विद्यापति तथा कबीर माने जा सकते हैं। तुलसी के विनय—पदों की आत्मा इन दोनों गीतिकारों की आत्मा से भिन्न हैं। तुलसी पर उनका प्रभाव लेशमात्र भी नहीं पड़ा है। विद्यापति के गीतों में जयदेव की आत्मा मुखर हुयी है जिसमें वासनामयी प्रवृत्ति का ही प्राधान्य है। कबीर के गीतों में उनकी भक्तिभावना

निराकार की ओर लक्ष्य करके उन्मुख हुयी है। फलतः कबीर के गीतों में भक्त की वह आत्माभिव्यक्ति व आत्म-समर्पणता की भावना नहीं मिलती जिन का उन्मेष विनय-पत्रिका में सर्वत्र हुआ है। अतः यह कहने में संकोच न होना चाहिए कि तुलसी द्वारा प्रणीत विनय-पदों के गीतिकाव्य का यह अध्यात्म रूप हिन्दी-गीति-साहित्य में सर्वप्रथम है।

विनयपत्रिका में गीतितत्व—इतने परिशीलन के उपरान्त अब देखना यह है कि 'विनयपत्रिका' के पदों में गीतिकाव्यत्व किस सीमा तक उपलब्ध है। गीति-तत्वों के अनुसार गीतों का अन्तर्जगतीय होना अनिवार्य है। तुलसी के गीतों में इस तत्व का निर्वाह सर्वत्र हुआ है। 'विनय-पत्रिका' के कुछ स्तुति-पदों को छोड़कर शेष सभी पदों में इस तत्व का स्पष्ट निरूपण हुआ है। सारे पद अन्तर्वेदना, आत्मलघुता तथा आत्म-निवेदन से भरे पड़े हैं। अन्तःकरण की अभिव्यंजना ही विनय पदों की प्रमुख विशेषता है। उनका अन्तर अपनी 'पाप-पीनता' तथा अपनी दयनीय दशा को देख-देख कर विकल हो उठता है। अनेको यत्न करता है परन्तु 'हरिपद-बिमुख' होने के कारण सदा दुखी रहता है। उसी का व्यक्तीकरण करते हुए तुलसीदास लिखते हैं—

जतन अनेक किए सुख-कारन, हरिपद-विमुख सदा दुख पायो।
अब थाक्यो जलहीन नाव ज्यों देखत विपति-जाल जग छायो॥१

आत्माभिव्यक्ति विनय-पदों में अति सजीव रूप में उपलब्ध है जो गीतों की वैयक्तिता में अनुपम निखार ला देती है। अपने जीवन के कलेवर का ही नहीं अपितु उसकी आत्मा का भी प्रकाशन तुलसी ने अपने गीतों के उद्देश्य रूप में ग्रहण किया है। अपने तीनों पनों का बांध कराते हुए अपनी अन्तरात्मा को मुखर करना ही तुलसी का उद्देश्य रहा है। अपनी विवश, विकल भावनाओं को व्यक्त करते हुए अपने सारे उपायों के वैफल्य समन्वित जीवन को निम्न शब्दों में कितने सजीव ढङ्ग से प्रस्तुत किया है—

डासत ही गयी बीत निसा सब, कबहुँ न नाथ! नींद भर सोयो।२

१. विनय० पद २४३, २. वही, पद २४५।

अतः अन्तर्जगत से सम्बन्धित भावनाओं का प्रकाशन, जो गीतिकाव्य की प्रथम विशेषता है, विनयपत्रिका के समस्त पदों में स्वस्थरूपेण हुआ है।

गीतों के लिए यह अनिवार्य है कि वे सक्षिप्त हों। विनय के पदों में यह विशेषता कुछ थोड़े से पदों के अतिरिक्त सर्वत्र उपलब्ध है। संक्षिप्तता गीतों की गेयता के कारण ही आवश्यक है। गीत के बड़े होने से उसका प्रभाव कुछ कुण्ठित हो जाता है और सूक्ष्य शक्ति क्षीण व मन्द हो जाती है। गीत जितना संक्षिप्त होगा उतना ही प्रभावशाली व सहज होगा। विनय के वे पद जिनमें तुलसी का भावोन्मीलन अधिक शक्तिशाली न होकर प्रसारयुक्त हो गया है अथवा जिनमें दार्शनिकता की प्रचुरता अथवा जीवनाभिव्यक्ति का समावेश हुआ है, अवश्य लम्बे हो गए हैं। अन्यथा सारे पद अति लघु तथा संक्षिप्त हैं। कोई-कोई पद तो केवल तीन-चार-पक्तियों में ही बंधा हुआ है। उदाहरणार्थ २३८ वें पद में टेक के अतिरिक्त केवल तीन पंक्तियाँ ही हैं और १२८ वें पद में कुल चार पंक्तियाँ। पाँच-पाँच और छः-छः पंक्तियों के पद तो अनेकों मिलते हैं।

सक्षिप्त रूप में वैयक्तिक भावनाओं के निरूपणार्थ कोमल व मधुर शब्द-चयन भी गीतों के लिये अनिवार्य है। रागानुभूति को व्यक्त करने की क्षमता केवल कोमल पदावली में ही होती है। विनयपत्रिका में सर्वत्र ऐसी ही पदावली का प्रयोग हुआ है। परुष शब्दों का सर्वथा परिहार किया गया है। किसी भी पद को उठा लीजिए, संस्कृत के तत्सम शब्दों के माधुर्य्य से भरा मिलेगा। उनका प्रत्येक विनय-पद संस्कृतमय श्रुति से स्वरित हो उठा है। उनमें विशेषता यह है कि सारे शब्द अपने यथोचित स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं, कहीं भी अस्वाभाविकता की गन्ध नहीं आती। अपने सुकोमल भावों की व्यंजनाहेतु मधुर, कोमलकांत पदावली का गोस्वामी जी ने जितना सफल प्रयोग विनय-पत्रिका के पदों में किया है उतना अन्यत्र नहीं।

अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वैयक्तिक भावनाओं का, कोमलकान्त पदावली के द्वारा, संक्षिप्त रूप में प्रकाशन ही गीति की उद्भावना है। परन्तु साथ ही साथ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उक्त परिभाषा सङ्गीत के अभाव में पूर्ण नहीं हो सकती। कहने का तात्पर्य यह

कि सङ्गीत गीति का प्राण है, उसका योग अपरिहार्य है। विनयपत्रिका के कुछ पदों के अतिरिक्त लगभग सभी पदों की रचना सङ्गीत के आधार पर हुयी है। फलतः उसमें अनेक राग-रागिनियों का समावेश हुआ है। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि "इक्कीस रागों में विनयपत्रिका का आत्म-निवेदन है।"१ पं० यज्ञदत्त शर्मा ने भी बिना परिश्रम अथवा छानबीन किए उक्त कथन को ही स्वीकार कर लिया है। उनका कथन है—"विनयपत्रिका का आत्मनिवेदन इक्कीस रागों में कवि ने गाया है।"२ डा० वर्मा के अनुसार उन रागों के नाम ये हैं—"विलावल, धनाश्री, रामकली, बसन्त, मारू, भैरव, कान्हरा, सारंग, गौरी, दण्डक, केदारा, आसावरी, जयतिश्री, ललित, टोढ़ी, नट, मलार, सोरठ, भैरवी और कल्याण।" 'विनयपत्रिका के पदों की खोजबीन करने पर यह कथन अशुद्ध प्रमाणित होता है क्योंकि 'विनयपत्रिका' में इक्कीस नहीं प्रत्युत् तेईस रागों का प्रयोग हुआ है। उक्त कथित रागों के अतिरिक्त दो रागों का प्रयोग और मिलता है, जो ये हैं—१. सूहो विलावल २. विलास।

इन तेईस रागों का दिग्दर्शन विभिन्न पदों के शीर्ष पर लिख कर किया गया है, जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि कौन सा राग किस भावना-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस दिग्दर्शन का क्रम इस प्रकार है।

राग	पद संख्या	भावना
१. कल्याण	२।४	वर्णनात्मक ('प्रभु' के विभिन्न रूप (आकार) तथा कार्य)
२. केदारा	४१,२१२	करुणा
३. कान्हरा	२४,२०४,	'वीर रूप' से याचना
४. भैरवी	१६८	उपदेश
५. गौरी	३१,३६,४५, १८६	वीर तथा शृङ्गार
६. आसावरी	६२, १८३	शृङ्गार, करुणा

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृष्ठ ४१८
२. तुलसी-साहित्य और सिद्धान्त पृष्ठ ५६

७. बिलावल	१,२१,३२,१३७,१७६	वीर, करुणा
८. सोरठ	१६२	करुणा
९. मलार	१६१	करुणा
१०. नट	१५८	करुणा, समर्पण
११. सारंग	३०, १५५	समर्पण, आश्रय
१२. सूहो बिलावल	१३५	शृङ्गार
१३. बिलास	१०७	शृङ्गार
१४. रामकली	६,१६,१७,४६,१०६	वर्णन, (गुण)
१५. धनाश्री	४,१०,२५,३८,४०,८५	उपदेश,'वीररूप' से याचना
१६. जयतिश्री	६३,८३	करुणा
१७. टोड़ी	७८	वर्णन (गुण)
१८. ललित	७५	समर्पण
१९. बिभास	७४	वर्णन (गुण)
२०. भैरव	२२,६५	उपदेश
२१. बसन्त	१३,२३,६४	शृङ्गार
२२. दण्डक	३७	वर्णन (गुण)
२३. मारू	१५	वीर

उक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि विनयपत्रिका में विभिन्न रागों का प्रयोग उपयुक्त भावनाओं के व्यक्तीकरण के हेतु किया गया है। केवल एक बात में मेरा मत डा० वर्मा से भिन्न है और वह यह कि उन्होंने रागों का जो विश्लेषण किया है वह शुद्ध नहीं जान पड़ता। कहीं-कहीं एक राग दो भावों को व्यक्त करता है। अतः उसे किसी एक भाव के साथ बाँध देना संगत नहीं। जैसे राग गौरी 'विनयपत्रिका' में वीर तथा शृंगार दोनों भावों को व्यक्त करता है अथवा राग आसावरी करुण तथा शृङ्गार भावों को व्यक्त करता है। उन्हें केवल एक भाव शृंगार अथवा करुणा के साथ बाँध देना उचित नहीं। यदि एक राग केवल एक ही भाव-विशेष को व्यक्त करने में प्रयुक्त होता है तो 'विनय-पत्रिका' में इसे द्विभावीय व्यक्तीकरण का दोष मानना चाहिए। किन्तु ऐसा कहना सङ्गत नहीं, क्यों

कि जब कभी एक राग दो या दो से अधिक भावों की व्यंजनाहेतु भी प्रयोग में आता है। अतः मानना यही पड़ता है कि वर्मा जी का विश्लेषण शुद्ध नहीं। तुलसी स्वयं उच्च सङ्गीतज्ञ थे, प्रत्येक राग के मर्म को पूर्णतः समझते थे। इसलिए उनमें दोष निकालना बुद्धिमत्ता न होगी। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे राग हैं जिनका प्रयोग वर्मा जी के विश्लेषणानुसार नहीं मिलता। उदाहरणार्थ मलार 'विनयपत्रिका' में करुणा-भाव का बोध कराता है वर्णन का नहीं; रामकली गुण वर्णन के लिए प्रयुक्त हुआ शांत के लिए नहीं। वस्तुतः हम समस्त तेईस रागों को उनके प्रयोगानुसार निम्नवर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

करुणा-भाव—जयतिश्री, नट१, मलार, सोरठ, आसावरी,१ केदारा
वीर-भाव—मारू, बिलावल, कान्हरा, धनाश्री१
शृंगार-भाव—बसन्त, विलास, सूहोबिलावल, आसावरी,२ गौरी
उपदेश-भाव—भैरव, धनाश्री,२ भैरवी
समर्पण-भाव—ललित, सारंग, नट,२
वर्णन-भाव—दण्डक, विभास, टोड़ी, रामकली, कल्याण

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि 'विनयपत्रिका' में गीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ स्वस्थ रूप से मिल जाती हैं। उसका प्रत्येक गीत गोस्वामी जी के अन्तःकरण की कोमल शब्दावली में संगीतात्मक अभिव्यक्ति है। गीतों की एक बड़ी विशेषता समभाव प्रदर्शन भी है। अर्थात् एकरस-भाव आद्यांत मुखरित होता है। इस भाव में आरम्भ से अन्त तक लहरों जैसा ग्राफिक उतार-चढ़ाव बना रहता है। आरम्भ में अपने भाव को सहज रूप में प्रस्तुत किया जाता है, गीत के मध्य में आकर गीतिकार की भावना तीव्रतम हो जाती हैं और मंजिल तक आते-आते वह पुनः सहज एवं विनम्र हो जाती हैं। विनयपत्रिका के लगभग सभी पदों में यह गुण विद्यमान है। प्रत्येक पद के आरम्भ की दो-चार पंक्तियाँ गोस्वामी जी के भाव को सरल व सौम्य रूप में प्रस्तुत करती हैं। आगे वाली कुछ पंक्तियों में गोस्वामी जी का हृदय उथल-पुथल मचाने लगता है, भावनाएँ अति क्षिप्र-गति से बहने लगती हैं

और अन्त में दो पंक्तियाँ उनके आत्मसमर्पण अथवा प्रभु-कृपा की याचना को प्रस्तुत करती हैं। उदाहरणार्थ कोई भी पद ले लें प्रत्येक में हम इसी क्रम को पाएँगे। निम्नांकित पद को ही ले लीजिए :—

तुम जनि मन मैलो करो, लोचन जनि फेरो।
सुनहु राम, बिनु रावरे लोकहुँ परलोकहुँ कोउ न कहूँ हितु मेरो॥
अगुन अलायक आलसी जानि अधम अनेरो।
स्वारिथ के साथिन्ह तज्यो तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरो।
भगति हीन, बेदबाहिरो लखि कलिमल घेरो।
देवनिहूँ, देव! परिहर्‌यो, अन्याव न तिनको, हौं अपराधी सब केरो॥
नाम की ओट लै पेट भरत हौं, पै कहावत चेरो।
जगत-विदित बात ह्वै परी समुझिए धौं अपने लोक कि बेद बड़ेरो।
ह्वै है जब-तब तुम्हहिं तें तुलसी को भलेरो।
देव! दिन हूँ दिन बिगरि है, बलि जाऊँ, बिलम्ब किए, अपनाइए सबेरो।१

उक्त पद में पहली बात तो यह है कि आद्योपान्त केवल एकरस भाव—शरण-प्राप्ति व भगवत् कृपा—का ही निरूपण हुआ है। इसमें तीनों अवस्थाओं का भी सफल निर्देशन हुआ है। प्रथम दो पंक्तियों में ही गोस्वामी जी ने केन्द्रीय भाव को व्यक्त कर दिया है। यथा—"हे प्रभु आप मेरे प्रति अपने मन को मैला न करें, मेरी ओर से आँख न फेरें। हे राम सुनो, इहलोक व परलोक, दोनों में, मेरा कल्याण करने वाला तुम्हारे अतिरिक्त कोई नहीं है।" इस कल्याणार्थ निवेदन के पश्चात् तुरन्त ही भावनाओं की गति में तीव्रता आती आरम्भ हो जाती है। अपने को हर प्रकार से अयोग्य, अधम, अनाथ आदि बतलाने लगते हैं। कलि द्वारा सताया हुआ कहते हैं। यथा—"स्वार्थी मित्रों ने मुझे मूर्ख, आलसी, अज्ञानी, नीच तथा बेकाम समझ कर तिजारी के टोटके की तरह त्याग दिया है। मैं भक्ति रहित हूँ बेदों से बहिष्कृत हूँ। ऐसा देख कर मुझे कलि ने घेर रक्खा है। सारे देवताओं की कृपा से मैं वंचित हो गया हूँ! मैं ही सब प्रकार से दोषी हूँ। तुम्हारे

१. विनय० पद २७२

नाम को लेकर ही मैं अपना उदर-पालन करता रहता हूँ। संसार को मेरी इस स्थिति का ज्ञान हो चुका है" गोस्वामी जी के भाव-प्रकाशन की यह द्वितीयावस्था है। भाव उद्वेलित, तीव्रतम रूप में निःसृत हो रहे हैं। इसी के आगे गीत की वह अवस्था आती है जब भाव पुनः अपने सहज रूप में सामने आता है। इस अवस्था में वह भाव अति भग्न, अति स्वाभाविक एवं सरल गति में प्रवाहित होता है। प्रस्तुत पद की अन्तिम दो पंक्तियाँ इसी अवस्था के अन्तर्गत आती हैं। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि गोस्वामी तुलसीदास ने गीति की आत्मा को नितान्त नवीन रूप देने के साथ साथ गीति-पद्धति की परम्परा का भी पूरा-पूरा अनुसरण किया है। संगीततत्त्व का समुचित समावेश गोस्वामी जी की संगीत-प्रज्ञा का दृढ़ द्योतक होता है। परन्तु साथ ही साथ गीति में समभाव प्रदर्शन तथा भाव-प्रकाशन की तीन अवस्थाओं अथवा गतियों की कुशल अभिव्यक्ति तुलसी की गीति-रचना नैपुण्य का स्पष्ट परिचय देती है।

उक्त तत्वों में, उपयुक्त रसयोग ही सफल गीति ही उद्भावना करता है। गीत में सुकुमार भावना, कोमल शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है; अतः रसनियोजन भी मधुर होना अनिवार्य है। गीतों में वीर, भयानक, रौद्र आदि रसों का प्रयोग वर्ज्य ही नहीं सर्वथा परिहार्य है। अन्यथा सरमसता को बहुत बड़ी ठेस पहुँचेगी। कहने का तात्पर्य यह कि गीत के लिए उपयुक्त रस केवल तीन ही माने गए हैं—शृङ्गार, वात्सल्य, और शांत। इनके अतिरिक्त करुणरस का भी गीतोत्पत्ति में महत्वपूर्ण योग होता है, यह सर्वमान्य है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि तुलसी ने 'विनयपत्रिका' के पदों में इन चारों रसों का सफल प्रयोग किया है। कहीं-कहीं वीर-भाव का भी प्रदर्शन किया गया है परन्तु उससे वीर रस की उद्भावना नहीं हो पाती। वह भाव एक याचक का भाव है, दीन-हीन मनुष्य की कल्याणार्थ पुकार है। अतः वीर भाव गौण रूप में रह जाता है और समर्पण का भाव तथा निवेदन-भाव प्रधान हो जाता है। अन्यथा समस्त-पदों में केवल इन्हीं चार रसों कीनिष्पत्ति हुयी है।

शृङ्गार रस के दो पक्ष होते हैं---संयोग और वियोग। गीत में जितना

महत्व वियोग का माना गया है उतना संयोग का नहीं। तुलसी ने भी विनय पदों में वियोग शृङ्गार का ही प्रयोग अधिक किया है। वे अपने को—जीव को, प्रभु से विलग बतलाते हुए सामीप्य-लाभ की आकांक्षा करते हैं। अपनी जीर्ण-शीर्ण दशा दुखित मनःस्थिति, पंकिल मनोभावों का प्रदर्शन करना, रोना-घिघियाना, द्वार पर धरना धर कर बैठ जाना—सब का लक्ष्य एक ही है—राम-सान्निध्य। तुलसी की यही वियोग भावना शृङ्गार के माध्यम से करुण-रस को जन्म देती है। ये दोनों रस संकर हो कर गीत-रस की सफल निष्पत्ति करते हैं। दो-एक उदाहरण देखिए—

(अ) द्वार हौं भोर ही को आज।
रटत रिरिहा आरि और न कौर ही तें काज॥
जनम को भूखो भिखारी हौं गरीब-निवाज।
पेट भरि तुलसिहिं जेंवाइय भगति-सुधा सुनाज।१

(ब) जिय जब तें हरि तें बिलगान्यो। तबतें देह-गेह निज जान्यो।
माया-बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो॥२

शृङ्गार का सयोग-पक्ष भी विनय-पदों में उपलब्ध हैं। इस पक्ष की व्यंजना विशेषरूप से उन पदों में हुई है जहाँ गोस्वामी जी ने स्तुतियाँ की हैं अथवा राम का 'नख-शिख रूप' का अथवा गुण का वर्णन किया है। निम्नांकित उदाहरण इसके स्पष्टीकरण के हेतु पर्याप्त होगा—

जानकीनाथ, रघुनाथ, रागादि-तम-तरनि तारुन्यतनु तेज धामं।
सच्चिदानंद आनन्द कंदाकरं बिस्व-विश्राम रामाभिरामं॥
स्रवन-कुण्डल, भाल-तिलक, भ्रू रुचिर अति, अरुन-लोचन विसालं।
बक्र अवलोक, त्रैलोक्य-सोकापहं मार-रिपु-हृदय-मानस-मरालं॥
नासिका चारु, सुकपोल, द्विज बज्रदुति, अधर बिम्बोपमा, मधुरहासं।
कंठ दर, चिबुक बर, बचन गंभीरतर, सत्य संकल्प सुर-त्रास नासं॥३

'विनयपत्रिका' में वात्सल्यरस का निरूपण बाल-वर्णन के रूप में कहीं नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि तुलसी के अवलम्ब, विनय की स्वीकृति-

१. विनय० पद २१६ २. वही, पद १३६ ३. वही, पद ५१

दाता, कलिरोषहर्त्ता, कल्याणकारी 'राम' शक्ति के भांडार हैं। बाल-सौन्दर्य के प्रतीक नहीं। अतः वात्सल्य का निरूपण जहाँ-कहीं हुआ है वह केवल समर्पण के रूप में ही है। तुलसी ने राम को अपना माता-पिता घोषित किया है। यथा—'माय बाप तुही साँचो तुलसी कहत।'२ यदि माना जाय तो वात्सल्य का केवल यही रूप विनय-पदों में उपलब्ध है, अन्य नहीं।

शांत का स्थायी भाव 'निर्वेद' होता है। निर्वेद का अर्थ है सांसारिक भ्रम एवं लोलुपता का अन्त और वीतराग का उदय। आत्मप्रक्षालन इसका मूलाधार होता है। आत्मा शनैः शनैः परमात्मा में लीन होने की ओर अग्रसर होती है - प्रभु के शील, सौन्दर्य व शक्ति की ओर आकर्षण और 'अहम्' के नाश के साथ-साथ जगत् सम्बन्धी वस्तुओं के प्रति विरक्ति ही निर्वेद की हेतु बनती है। विनयपदों में सर्वत्र यह भाव परिलक्षित होता है, परन्तु स्तुति-पदों में इस भाव का उन्मेष विशेष रूप से हुआ है।

सारांश यह कि 'विनयपत्रिका' में गीत का सत्य, मूल रूप देखने को मिलता है। लगभग प्रत्येक पद गीत का आदर्श प्रस्तुत करता है। सारे गीत-तत्वों के संयोग से उद्भूत विनय-पद पाठकों के हृदय पर अमिट छाप छोड़ते हैं, सीधा प्रभाव डालते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि विनयपत्रिका हिंदी साहित्य में गीतिकाव्य का गौरवपूर्ण उत्कृष्ट उदाहरण है, अप्रतिम आदर्श है।

---

१. विनय० पद २५६

विनयपत्रिका की काव्यकला

'विनयपत्रिका' तुलसी की गम्भीरतम अनुभूतियों की अभिव्यंजना है, उनकी एकनिष्ठा का उत्कर्षपूर्ण उन्मेष है। अनुभूति काव्य का प्राण होती है। अतः तुलसी की 'विनयपत्रिका' में काव्य के उपेक्षित उपादान स्वतः ही संघटित हो गए हैं। परन्तु ऐसा कहने से यह तात्पर्य कदापि नहीं कि गोस्वामी जी काव्य के उपादानों से अनभिज्ञ थे। वे अपने विषय के पंडित थे, इसमें कोई सन्देह अथवा अत्युक्ति नहीं। उनके काव्य का केन्द्र बिन्दु 'राम-भक्ति' ही रहा है। अतः वे दासरूप में सर्वदा अति विनम्र भाव से अपने अन्तर एवं बाह्यरूप को प्रस्तुत करते हैं। अपने कवि होने के विषय में, तथा काव्यकला की जानकारी के सम्बन्ध में भी उन्होंने मानस में एक-दो स्थलों पर कुछ निर्देश किया है; परन्तु वह सब उस अहमशून्य विनत भावना के फलस्वरूप ही है। यथा —

(अ) कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबन्ध अनेक विधाना॥
कबित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिख कागज कोरे॥१

(ब) कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ मति अनुरूप रामगुन गावउँ॥२

---

१. मानस० बाल० ६ २. वही, बाल० १२।

उक्त कथन के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि अन्तर्साक्ष्य के अनुसार तुलसी में काव्योचित गुणों का अभाव था। गोस्वामी जी की कवित्व शक्ति पर इस स्वकथन का आवरण डालना सबसे बड़ी भूल होगी, क्योंकि तुलसीरचित ग्रन्थों के परिशीलन द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि वे काव्य की प्रत्येक बारीकी से पूर्णतः भिज्ञ थे।

वैसे तो तुलसी की काव्यकला का निरूपण उनके 'मानस' में सर्वोत्तम व सम्पूर्ण रूप में हुआ है, तथापि उनकी अन्य कृतियाँ भी इससे वंचित नहीं रहीं। अधिकाँश रूप में आलोचकों का ध्यान 'मानस' ने ही आकृष्ट किया है, और उसमें प्रयुक्त काव्य के विविध रूपों की उत्तम आलोचना भी हुई है। परन्तु यहाँ विषय के अनुकूल हमारा लक्ष्य केवल विनयपत्रिका की ही काव्य-कला का विश्लेषण है।

काव्य के प्रधान रूप से दो भेद हैं—व्यक्तित्व प्रधान अथवा कर्तृ प्रधान काव्य (Subjective Poetry) और विषय प्रधान अथवा कर्म प्रधान काव्य (objective Poetry) विषय प्रधान काव्य के मुख्य दो भेद हैं—खण्डकाव्य और महाकाव्य। इसमें कवि आत्म से विप्रदृष्ट हो कर बाह्य में घुलमिल जाता है, उसी से प्रेरणा प्राप्त करके उसके व्यंजनार्थ काव्य के उपादानों को जुटाता है। व्यक्ति प्रधान काव्य का मुख्य रूप मुक्तक काव्य है। इसमें आत्माभिव्यक्ति प्रधान रूप से परिलक्षित होती है, बाह्यजगत कवि के मनोभावों से प्रच्छन्न हो जाता है। कवि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल अन्तर्जगत से ही होता है। इस प्रकार के काव्य के प्रधान विषय शृङ्गार, नीति, स्तुति आदि होते हैं जिसमें कवि की सार्वजनिक अनुभूतियों का रसायन अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। वस्तुतः विनयपत्रिका व्यक्तिप्रधान काव्य ही माना जा सकता है।

'विनयपत्रिका' की रचना वर्ण्य विषय के अनुकूल गीति-पद्धति के आधार पर हुई है। इसके पूर्व-काल में इसका पर्याय नहीं मिलता, यही इसकी विशेषता है। शरीर वही है परन्तु आत्मा का रूप बदला हुआ है। इसमें व्यक्त भावप्रवणता, आत्मसाक्षात्कार, युगजनीन अनुभूतियों की कवि-हृदय-समन्वित व्यंजना अन्य गीति-ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं। प्रत्येक गीत में कवि के भक्तपूर्ण

हृदय की मृदुल अनुभूतियाँ उभर आयी हैं। इसमें कवि की अलौकिक भावनाओं को लोकभावना की भूमिका पर खड़ा किया गया है; पारलौकिक लक्ष्य को मोड़ कर लौकिक साधारणीकरण के अपरिमित क्षेत्र में लाकर समासीन कर दिया गया है।

मुक्तकों में अधिकतर नीति अथवा उपदेश का समावेश ही पाया जाता है। परन्तु विनयपत्रिका के गीतिमुक्तक में संत-उपदेशकों की शुष्क धारा प्रवाहित नहीं हुई है। इसमें विशुद्ध अनुभूति से युक्त पदों में स्वप्रबोध व स्वोपदेश को प्रस्तुत किया गया है। निर्वेद भाव से आप्लावित होते हुए भी अन्य को उपदेश देने का अहम् यहाँ नहीं मिलता। यही विनयपदों की विशेषता है।

विनयपत्रिका के गीतों में गीति-तत्वों का पूरा-पूरा समावेश मिलता है। कहीं किसी भी पक्ष में कोई त्रुटि अथवा न्यूनता दृष्टिगत नहीं होती; आर्जव, लालित्य तथा प्रवाह का सर्वथा निर्वाह हुआ है। इस विषय की विस्तृत व्याख्या पिछले अध्याय में हो चुकी है।

विनयपत्रिका की काव्यकला का मूल्यांकन करते समय हमें उसमें प्रयुक्त उपादानों की विवेचना करना अनिवार्य है। इसे उत्कृष्ट बनाने के हेतु तत्वतः जिन-जिन प्रसाधनों अथवा उपादानों का प्रयोग हुआ है वे प्रमुख रूप से इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं—भाषा, शैली, अलंकार, वाक्चातुर्य तथा उक्ति वैचित्र्य और रस।

भाषा—

'विनयपत्रिका' की रचना शुद्ध ब्रजभाषा में हुई है। ब्रजभाषा का यह रूप तत्कालीन रचित कृष्णकाव्य की ब्रजभाषा से भी अधिक रुचिकर बन पड़ा है। ऐसा परिष्कृत एवं सुसम्बद्ध रूप अन्यत्र उपलब्ध नहीं। परन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि 'विनयपत्रिका' में ब्रज के अतिरिक्त अन्य भाषा का प्रयोग नहीं मिलता। यहाँ उनकी प्रिय भाषा अवधी के दो-चार छींटे तथा भोजपुरी, संस्कृत तथा बुंदेलखण्डी भाषा का यथोचित सामंजस्य भी उपलब्ध है। संस्कृत की तत्सम शब्दावली, अपरिवृत्तिसह होकर कृत्रिमता व 'पाण्डित्य-

प्रदर्शन की शून्यता में, गोस्वामीजी की लगभग सभी कृतियों में समविष्ट हो गई है। 'विनयपत्रिका' में शिव, हनूमान, राम सम्बन्धी अधिकांश स्तोत्र इसी शब्दावली में रचे गए हैं। कहीं-कहीं तो सम्पूर्ण स्तोत्र शुद्ध संस्कृत का आदर्श उदाहरण बन कर सामने आ जाता है। यथा—

संकरं संप्रदं सज्जनानंदनं, सैल-कन्यावरं परम रम्यं।
काम-मद-मोचनं तामरस-लोचनं, वामदेवं भजे भावगम्यं॥
कंबु-कुन्देन्दु-कर्पूर-गौरं सिवं, सुन्दरं सच्चिदानन्द कंदं।
सिद्ध-सनकादि योगीन्द्र वृन्दारका, विष्णु-विधि-बन्द्य चरनारविन्दं॥१

उक्त उद्धरण को देख कर कौन न कह देगा कि यह भाषा किसी संस्कृत विज्ञानी पण्डित की भाषा है। यदि खोजबीन की जाय तो ज्ञात होगा कि विनयपत्रिका में अनेकों सविभक्तिक पद भी मिलते हैं, जैसे—'विपुल-भूपति-सदसि महँ नर-नारि कह्यो प्रभु पाहि' में 'सदसि' पद। यत्र-तत्र कुछ सर्वनामों को भी उनके विशुद्ध रूप में ही प्रयोग किया गया है, जैसे—'मम' 'तव' 'अहम्' आदि। इसके अतिरिक्त 'पश्य' 'वद', 'अस्मि' आदि क्रियाओं और 'इदं' 'अयं' 'तेऽपि', 'क्योंऽब' 'कोऽपि' आदि का प्रयोग स्तोत्रों में बहुत मिलता है। संस्कृत के तद्भव शब्दों का भी प्रयोग विनय-पदों में मिलता है। 'आखत' (अक्षत), 'समुझई' (सम्बुध्यते), 'भीतर' (आभ्यन्तर), 'भीख' (भिक्षा), 'गाँठ' (ग्रन्थि) 'लोयन' (लोचन), 'नाह' (नाथ) 'मीचु' (मृत्यु), 'पखारन' (प्रक्षालन) आदि। संस्कृत के अतिरिक्त भोजपुरी का प्रयोग भी 'विनयपत्रिका' में बड़े स्वाभाविक व स्वस्थ रूप में हुआ है। केवल एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा—

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहिंन भव बेगारि महं परिहौ, छूटत अति कठिनाई रे॥
बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करम चंद मंद मोल बिनु डोला रे॥

१. विनय० पद १२

विषम कहार मार मदमाते चलहिं न पाँब बटोरा रे।
मंद विलंद अभेरा दलकन, पाइय दुख झकझोरा रे॥
काँट कुराय लपेटन लोटन ठाँवहिं ठाउँ बझाऊ रे।
जस-जस चलिय दूरि तस-तस निज बास न भेंट लगाऊ रे॥
मारग अगम, संग नहिं सम्बल, नाउं-गाउं कर भूला रे।
तुलसिदास भवत्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे॥१

इस पद में रेखांकित पद विचारणीय हैं, विशेषरूप से 'सरल' व 'दिहल' जो शुद्ध भोजपुरी हैं। भाषा ऋजु. स्वाभाविक और चलती हुई है। अनेक ग्रामीण मुहावरों का भी यथोचित प्रयोग हुआ है।

गोस्वामी जी की भाषा की वह विशेषता है कि उसमें देशज शब्दों का प्रयोग निःसंकोच रूप से किया गया है। खोजने से ऐसे अनेक शब्द मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ हम इन्हीं को ले सकते हैं—गोड़, पेट, विसूरना, जोहाइ डासति, निदरि, बानक, बिगारी, सरम, ठौर आदि आदि। इन शब्दों की सहायता से तुलसी ने अपनी बात बड़ी मार्मिकता व प्रभावशीलता के साथ अभिधेय रूप में कह दी है।

विनयपत्रिका में गोस्वामी जी ने विभाषाओं एवं प्रचलित बोली के शब्दों का भी समुचित प्रयोग किया है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि विनयपत्रिका में प्रयुक्त ब्रजभाषा में इसकी विभाषा बुन्देलखण्डी का प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ पद संख्या ६४, २१० व २२ में प्रयुक्त 'पनवार', 'खेरे' और 'चारितु' शब्दों को लिया जा सकता है जो क्रमशः 'पत्तल' 'गाँव' व 'चारा' के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त मराठी के 'फोकट'२, बघेली के 'बागत'३ आदि शब्दों का भी जहाँ-तहाँ प्रयोग मिल जाता है।

गोस्वामी जी के समय में जितनी प्रचलित भाषाएँ, विभाषाएँ थीं, सभी पर उर्दू फारसी का प्रभाव पड़ चुका था। अरबी, फारसी आदि के शब्द प्रत्येक मनुष्य के ज़बान पर रहते थे। जनसाधारण की भाषा में इन शब्दों

१, विनय० पद १८६। २, वही पद १७६। ३, वही, पद ६८।

के आ जाने से इनका फारसीत्व एवं अरबीत्व लुप्त हो गया। गोस्वामी जी, समय के प्रतिनिधि-कवि, इससे दूर कैसे रह सकते थे। फलतः उनकी कृतियों में अरबी, फारसी आदि के शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। यहाँ कुछ उदाहरण देकर विषय को स्पष्ट कर देना युक्तिसंगत होगा। (अ) अरबी भाषा के शब्द—वसीले १, दिरमानी २, मुकाम ३, दिवान ४, सतरंज ५, सौदा६, गरीब-निवाज ७, निवाजे ८, साहिब ९, जहरु १०, फहम, ११

(ब) फारसी भाषा के शब्द—निसानी १२, सदम १३, गरम १४, जेरो १५, ख्याल १६, खरगोसु १७, विलन्द १८, मिसकीनता, १९, दगाबाजि २०

उपर्लिखित सभी शब्द तत्सम रूप में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। इनको, अपनी भाषा की ध्वनि तथा व्याकरण के आधार पर अपनी आवश्यकतानुसार, नवीन रूप तथा विस्तार दे दिया है। उदाहरण के लिए 'शरीक' शब्द को सरीकता तथा 'मिस्कीन' को 'मिसकीनता' बनाया है। इसके अतिरिक्त कुछ फारसी के शब्द जैसे 'साज़', को 'साजे', 'साज', 'साजा', 'कुसाज', तथा 'निवाज़' शब्द को 'निवाज' 'निवाजे' 'निवाजिबो' का रूप दे दिया है।

विनयपत्रिका में आनुकरणिक शब्दों (Onomatopoeia) का योग भी भाषा-सौन्दर्य की पर्याप्त अभिवृद्धि करता है। यह शब्दानुरणन कुछ उदाहरणों से स्पष्टतया जाना जा सकता है। यथा—

(अ) पाहि पाहि राम! पाहि रामभद्र रामचन्द्र २१

(ब) रटत रिरिहा आरि और न कौर ही तें काज २२

---

१. विनय० पद ३२ २. वही, पद १२२ ३. वही, पद १५६ ४. वही, पद १९१ ५. वही, पद २४६ ६. वही, पद २६४ ७. वही, पद २१९ ८. वही, पद २४९ ९. वही, पद २६४, १९१, १३४, १०. वही, पद २५० ११. वही, पद २६५ १२. वही, पद ५ १३. वही, पद १३१, २४९ १४. वही, पद २४९ १५. वही, पद १४६ १६. वही, पद १४५ १७. वही, पद १५९ १८. वही, पद १८९ १९. वही, पद २६२ २०. वही, पद २६४ २१. वही, पद २४८ २२. वही, पद २१९

(स) जीति हारि चुचुकारि दुलारत १

(द) कलि बिलोकि हहर्‌यो हौं ।२

उक्त उद्धरणों में रेखाङ्कित शब्दों पर यदि विचार किया जाय तो ज्ञात हो जायेगा कि प्रत्येक शब्द स्वयं बोलता है, अपना अर्थ स्वयं प्रकाशित कर देता है। 'विनयपत्रिका' के भाषा-माधुर्य को उसमें प्रयुक्त मुहावरों ने सजीव कर दिया है, उसमें अनोखी जान डाल दी है। अनेकानेक मुहावरों का प्रयोग होते हुए भी भाषा में शिथिलता अथवा गतिरोध नाम को भी नहीं आ सका है। यही तो भाषा का सौन्दर्य है, उसका बाँकापन है। ये मुहावरे तुलसी की वाक्‌वक्रता, व्यवहार-कुशलता आदि का सुन्दर परिचय देते हैं। चलती हुई लोकभाषा में मुहावरों का अभाव भाषा को निष्प्राण व नीरस बना देता है। अतः तुलसी ने जान-बूझ कर अपनी भाषा को मुहावरों का यथोचित योग प्रदान किया है। 'गाय के खुर में डूबना' 'घी की मक्खी होना' 'हियनयन से देखना' 'हाथ मल-मल कर पछताना' आदि मुहावरे इस ढंग से प्रयुक्त हुए हैं कि भाषा की स्वाभाविकता व ऋजुता और बढ़ गयी है। यथा—

(अ) गोपद बूड़िबे जोग करम करो बाँतनि जलधि थहाबौं ३

(ब) तुलसी प्रभु साँचो हितू, तू हिये की आंखनि हेरि ४

(स) तू पछितैहै मन मींजि हाथ ५

(द) राखि कहौ हौं जोपै ह्वै हौं माखी घीय की ६

मुहावरों के अतिरिक्त लोकोक्तियों का प्रयोग भी विनयपत्रिका में मिलता है, जैसे 'सपने न अघाइ'७ 'गाँठी बाँध्यो राम न परख्यौ' ८, 'सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो'९ 'दूध को जर्‌यो पियत फूँक फूंक मह्यो'१०

सारांश यह कि भाषा को आर्जव, ऋजुता, प्रवाह, प्रभाव, व सरसता प्रदान कर उसे लोकग्राह्य बना देने में तुलसी की निपुणता व कौशल की जैसी अभिव्यक्ति विनयपत्रिका में हुई है वैसी अन्यत्र नहीं। भाषा-

१. विनय० पद १००, २. वही, पद २६७, ३. वही पद २३२, ४. वही, पद १९०, ५. वही पद ८४, ६. वही पद २६३, ७. वही पद १६९, ८. वही पद १९१, ९. वही, पद २२६, १०. वही, पद २६० ।

विभाषाओं के सामंजस्य, भावानुकूल शब्दों के चयन और मुहावरों तथा लोकोक्तियों के समुचित, सफल प्रयोग ने जो सौन्दर्य, जो स्थायित्व, जो गति जो सर्वग्राहिता तुलसी की विनयपत्रिका में प्रयुक्त ब्रजभाषा को दी है वह अन्य किसी को नहीं। यही तुलसी की महानता है, उनकी सफलता है।

शैली

यह सर्वमान्य है कि तुलसी अपने समय की प्रचलित सभी काव्य-शैलियों से परिचित थे; और उन्होंने अपने ग्रन्थों में उन सभी का सफल प्रयोग भी किया है। परन्तु विनयपत्रिका में उन्होंने केवल गीति-शैली का ही प्रयोग किया है। कारण स्पष्ट है। विनयपत्रिका अन्य ग्रन्थों से कुछ भिन्न विषय को लेकर चली है। यह अपने कवि की अनुभूतियों की प्रति-रूप है, उनका सुप्रभ दर्पण हैं। मीरा, सूर, विद्यापति आदि अनेक गीतिकारों की गीतात्मा से भिन्न होने के साथ-साथ तुलसी की विनयपत्रिका स्वानुभूतिपरक गीति-शैली का अनुपमेय रूप प्रस्तुत करती है।

विनयपत्रिका में स्तोत्र-शैली का भी विधान बड़ी सफलता पूर्वक किया गया है। ये स्त्रोत विनयपत्रिका के आरम्भ में लिखे हुए इकसठ स्तुति-पद है। इनमें से अधिकांश पदों में संस्कृत की विभक्तियों का प्रयोग हुआ है। अतः कहीं-कहीं शैली विकृत व भाषा गुटठल हो गयी है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह शैली अथवा ऐसी भाषा सर्वसाधारण को अग्राह्य है। संस्कृत शब्दावली के काठिन्य के मौजूद होते हुए भी कोई-कोई पद तो इतने प्रचलित हो गए हैं कि उनको अपढ़ भक्तों के मुँह से निकलते हुए देखकर आश्चर्य होता है। उदाहरणार्थ यह पद लिया जा सकता है—

श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन हरन भवभय दारुनं।
नव कंज-लोचन, कंज-मुख, करकंज, पद कंजारुनं॥
कन्दर्प-अगनित अमित छवि, नवलीन नीरद सुन्दरं।
पटपीत मानहुं तड़ित रुचि सुचि नौमि जनक-सुतावरं॥
भजु दीनबन्धु दिनेस दानव-दैत्य-वंस-निकंदनं।
रघुनंद आनंदकंद कोसलचंद दशरथ-नन्दनं॥

सिर-मुकुट, कुंडल-तिलक चारु, उदारु अंग विभूषनं।
आजानुभुज, सर-चाप-धर, संग्रामजित-खरदूषनं॥
इति वदति तुलसीदास संकर-सेष मुनि-मन-रजनं।
मम-हृदय-कंज निवास करु, कामादि खल-दल-गंजनं॥१

इस पद में तुलसी ने अपने आराध्यदेव का नखशिख-वर्णन अति सौंदर्य-शाली व प्रवाहपूर्ण ढङ्ग से किया है। तुलसी की शैली की यही विशेषता है।

गीतिशैली की विशेषता यह है कि वह कवि की अस्त्रानुभितियों को सरस, सरल व संक्षिप्त रूप में व्यक्त करते हुए गेय बना दे। विनयपत्रिका में इस शैली ने यही किया ही। प्रत्येक पद ने कवि-हृदय के कोने-कोने को प्रकाश-मान कर दिया है। हाँ, स्तोत्र-पदों में यह गेयता यह सरलता, संस्कृत पदा-वली से प्रच्छन्न होकर मन्द हो गई है; यही नहीं, कहीं-कहीं यति-भंग-दोष भी मिल जाता है। परन्तु ऐसा अन्य पदों में नहीं हुआ है। वे तो गीतिशैली के एक आदर्श को प्रस्तुत करते हैं। तुलसी का इस शैली पर अपरिमित अधिकार हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह शैली तुलसी की मुहावरों तथा लोकोक्तियों के प्रति अनन्त रुचि के फलस्वरूप अनूठी होकर तुलसी के भावाभिव्यक्ति की सुमधुर व सर्वश्रेष्ठ माध्यम बन गयी है।

अलंकार

अलंकार काव्य के प्राण होते हैं, यह तो नहीं कह सकते; परन्तु काव्य की शोभा, वाह्यांग की कमनीयता बढ़ाने का मुख्य प्रसाधन अलंकार ही, इसे मानना पड़ता है। अतः श्रेष्ठ काव्यकारों को अलंकारों का सम्यक् ज्ञान होना अनिवार्य है। गोस्वामी जी को भी अलङ्कारों की पूरी जानकारी थी। इसका प्रमाण यही है कि उनके विभिन्न ग्रन्थों में अलङ्कार के तीनों भेद—शब्द, अर्थ और उभय—स्वस्थ रूप में मिलते हैं।

विनयपत्रिका भी गोस्वामी जी के अलङ्कार-ज्ञान से अछूती न रह सकी। परन्तु अलङ्कारविधान 'विनयपत्रिका' का लक्ष्य नहीं रहा है, क्योंकि गीत-रचना में इनका अधिक नियोजन अहितकर होता है। शब्दालङ्कार विनय-

१. विनय० पद ४५

पत्रिका के लगभग सभी पदों में मिल जाते हैं। ये स्वाभाविक रूप में ही प्रवेश करते रहे हैं। मुख्य शब्दालंकार चार हैं—अनुप्रास, यमक, श्लेष और वक्रोक्ति। इनमें से अनुप्रास ही अधिकांशतः विनय-पदों में प्रयुक्त हुआ है। अनुप्रास के तीनों भेद—छेक, वृत्य, तथा लाट—अपने स्वस्थ रूप में मिल जाते हैं। छेकानुप्रास तो पंक्ति-पंक्ति में मिलता है; परन्तु वृत्यनुप्रास का जितना सुघर एवं पुष्ट उदाहरण निम्न पंक्ति में मिलता है, वह देखते ही बनता है। पूरी पंक्ति में 'द' की आवृत्ति-वृत्ति देखिए—

दीनदंधु, दीनता-दरिद-दाह-दोष-दुख-
दारुन-दुसह-दर- दरप हरन ।१

अब यदि अर्थालंकार को लें तो देखेंगे कि तुलसी ने विनय-पदों में लगभग सभी मुख्य अर्थालंकारों का प्रयोग किया है। इन्हें कई वर्गों में विभाजत कर सकते हैं—१. साधर्म्यमूलक २. अध्यवसायमूलक ३. विरोधमूलक ४. वाक्यन्यायमूलक ५. लोकव्यवहारमूलक ६. तर्कन्यायमूलक ७. शृङ्खलावैचित्र्यमूलक ८. अपह्नवमूलक ९. विशेषणवैचित्र्यमूलक

साधर्म्यमूलक अलंकारों के तीन भेद होते हैं—अभेद प्रधान, भेद प्रधान, भेदाभेदप्रधान। इन तीन भेदों के अन्तर्गत आने वाले अलंकारों की गणना निम्न प्रकार हो सकती है :

अभेदप्रधान—रूपक, सन्देह, भ्रान्तिमान, परिणाम, उल्लेख और अपह्नुति।

भेद प्रधान—दीपक, तुल्योगिता, दृष्टान्त, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, सहोक्ति, व्यतिरेक, प्रतीप।

भेदाभेद प्रधान—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण।

विनयपत्रिका में उक्त लगभग सभी अलंकारों का प्रयोग सुन्दर व स्वाभाविक रूप में हुआ है। सर्वप्रथम **अभेदप्रधान** के अन्तर्गत गिनाए हुए अलंकारों की छटा देखने का प्रयास करते हैं। रूपक अलंकार गोस्वामी जी के सर्वाधिक प्रिय अलंकारों में से है। निरंग, परम्परित और सांगरूपक का प्रयोग

१. विनय० पद २४८

करने में तुलसी सिद्धहस्त हैं। रूपक के साधर्म्य व सादृश्य को कुशलतापूर्वक निभाते हुए गम्भीर व गूढ़ विषयों को सरल व ग्राह्य बना देने में तुलसी अद्वितीय हैं। साधर्म्य प्रकाशन के हेतु तुलसी ने परम्परागत उपमानों व अप्रस्तुतों के अतिरिक्त प्रकृति के उन व्यापारों को भी जुटाया है जो सामान्य व सुपरिचित हैं; और इस प्रकार विषय को स्पष्ट व सरल बना दिया है। प्रत्येक का एक-एक उदाहरण यथेष्ट होगा—

(अ) **निरंग-रूपक**—श्रीहरि-गुरु-पद कमल भजहु मन तजि अभिमान १

(ब) **परम्परित रूपक**—जाके पद-कमल लुब्ध मुनि मधुकर विरत जे
परम सुगतिहु लुभाहिं न।२

(स) **सांग रूपक**-बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करम चँद मन्द मोल बिनु डोला रे।
विषम कहार मार-मद-माते चलहिं न पाँव बहोरा रे।
मन्द बिलन्द अभेरा दलकिन पाइय दुख झकझोरा रे ॥३

इस अंतिम उद्धरण में शरीर को तिकोना खटोला कह कर गोस्वामी जी ने इसके अङ्गप्रत्यंगों का कितना सजीव चित्रण किया है। जन्म-जन्मान्तरों से चली आने वाली विषय-प्रवृत्ति पुराना बाँस है। प्रकृति, महतत्व और अहंकार तीन पाटियाँ हैं, सत्व, रज, तम—ये तीन पाये हैं। इसे उठाने वाले पाँच कहार हैं— जिह्वा, नेत्र, नासिका, कर्ण और त्वचा।

भ्रान्तिमान द्वारा 'जेवरी' में 'साँप' के भ्रम का कितना सहज निरूपण गोस्वामी जी ने इस पंक्ति में किया है—

'खायो जेबरी को साँप रे' ४

विनयपत्रिका में उल्लेख अलंकार अधिक स्थलों में खोजे से भी नहीं मिलता। एक दो स्थलों में राम के स्वरूप का निर्धारण करने अथवा राम के गुण-वर्णन में यह अवश्य मिल जाता है। उल्लेख का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण राम के सरोज रूपी 'कर' की गुण-शक्ति निरूपण में मिलता है। उल्लेख की

१. विनय० पद २०३ २. वही, पद २०७ ३. वही, पद १८६ ४. वही, पद७३

योजना के सहारे 'कर-सरोज' की गुणावली प्रस्तुत करते हुए गोस्वामी जी ने उसे 'कठोर संभुधनु' तोड़ने वाला, केवट को प्रीति प्रदान करने वाला, 'गीध' पर कृपा करने वाला, सुग्रीव को त्राण देने वाला, विभीषण का राज्याभिषेक करने वाला, राक्षसों का संहार करने वाला आदि कितने सजीव ढंग से बतलाया है। यथा—

जेहि कर-कमल कठोर संभुधनु भंजि जनक-संसय मेट्यो।
जेहि कर-कमल उठाइ बंधु ज्यों, परम प्रीति केवट भेट्यो॥
जेहि कर-कमल कृपालु गीध कहँ, पिण्ड देइ निज धाम दियो।
जेहि कर-कमल बिदारि दास-हित, कपिकुल-पति सुग्रीव कियो।
आयो सरन सभीत विभीषन, जेहि कर-कमल तिलक कीन्हों।
जेहि कर गहि सर-चाप असुर हति, अभयदान देवन दीन्हों॥१

साधर्म्यमूलक के द्वितीय रूप- भेद-प्रधान अलंकारों का भी समुचित प्रयोग विनयपत्रिका में मिलता है। तुल्योगिता की योजना से अनेक अप्रस्तुतों का एक ही गुण प्रदर्शित करने में गोस्वामी जी कितने सिद्धहस्त हैं, देखिए—

(अ) ऋषय सिद्ध, मुनि, मनुज, दनुज, सुर, अपर जीव जगमाहीं।
तुव-पद-विमुख न पार पाय कोउ, कलप कोटि चलि जाहीं॥२

(ब) जननि जनक, सुत, दार, बंधुजन, भये बहुत जहं जहं हौं जायौ।
सब स्वारथहित प्रीति कपट चित, काहू नहि हरिभजन सिखायो॥३

उत्कृष्ट दृष्टान्त के द्वारा उपमान व उपमेय का धर्मसाम्य दिखलाने में गोस्वामी जी ने कितनी प्रवीणता का परिचय दिया है—

(अ) दै दै सुमन तिल वासि कै अरु खरि परिहरि रस लेत।
स्वारथहित भूतल भरै, मन मेचक तनु सेत॥५

(ब) बड़े की ही ओट, बलि, बाँचि आए छोटे हैं।
चलत खरे के सँग जहां-तहाँ खोटे हैं॥५

'बिन्दुमाधव' के नखशिख-वर्णन में 'प्रतीप' का यह उदाहरण भी देखिए, कितना सुन्दर बन पड़ा है—

१. विनय पद १३८ २. वही, पद ६ ३. वही, पद २४३ ४. वही, पद १६० ५. वही, पद १७८

बिसद, किसोर, पीन, सुन्दर बपु, स्याम सुरुचि अधिकाई।
नील कंज बारिद तमाल मनि, इन्ह तनु ते दुति पाई ॥१

इसी प्रकार व्यतिरेक का उदाहरण भी बड़े अनूठे रूप में प्रस्तुत किया गया है। व्यतिरेक के सहारे अपने राम को सुशील व सीधासादा सिद्ध करने में गोस्वामी जी ने संगीत के स्वर, अग्नि के गुण, जल-मीन की प्रीति चंद्र सूर्य के गौरव को अति क्षुद्र व निम्न प्रदर्शित किया है। यथा—

नाद निठुर, समचर सिखी, सलिल सनेह न सूर।
ससि सरोग, दिनकर बड़े, पयद प्रेम-पथ क्रूर ॥
सरल सील साहिब सदा, सीतापति-सरिस न कोइ ॥२

प्रतिवस्तूपमा के प्रयोग द्वारा एक ही क्रिया को दो पृथक वाक्यों में विभिन्न शब्दों द्वारा देखिए किस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

कहौं कौन मुँह लाइ कै रघुबीर गुसाईं।
सकुचत समुझत आपनी सब साइँ दुहाई ॥३

साधर्म्यमूलक के भेदाभेद-प्रधान अलंकारों में उपमा को ही सर्वोपरि माना गया है। उपमा का प्रयोग तुलसी ने अधिकतः रूप-गुण-वर्णन में किया है। नये-से-नये उपमानों का विधान करने में गोस्वामी जी ने अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। सूक्ष्म निरीक्षण एवं अनुभूति के वृहद् पटल पर अनूठे, अनोखे व सुपरिचित उपमानों को अंकित करने में तुलसी ने अपनी कला को अति कौशलपूर्ण प्रस्तार दिया है। कुछ उदाहरण देखिए—

(क) धुआँ कैसे धौरहर देखि तू न भूलि रे४
(ख) सुखद, सुशील, सुजान, सूर, सुचि, सुन्दर कोटिक काम सोभ५
(ग) तरु कोटर महं बस बिहंग तरु काटे मरै न जैसे ।६
(घ) राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर-मीन को !७
(ङ) स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजरा को सो टोटक ओचट उलटि न हेरो ।८

१. विनय० पद ६२, २. वही, पद १६१ ३. वही, पद १४८ ४. वही, पद ६६, ५. वही, पद १५७ ६. वही, पद ११५ ७. वही, पद २६६ ८. वही, पद २७२।

अध्यवसाय मूलक अलंकारों में उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति मुख्य हैं। उत्प्रेक्षा का प्रयोग गोस्वामी जी ने, उन्मुक्त रूप से, अपने सभी ग्रन्थों में किया है। उत्प्रेक्षा की सहायता से गोस्वामी जी ने अपने रूप वर्णनों को अधिक सुघर, सजीव तथा प्रभावोत्पादक बनाया है। प्राकृतिक व्यापारों के साथ-साथ लौकिक-अलौकिक अप्रस्तुतों के प्रयोग में गोस्वामी जी सिद्धहस्त हैं। उनकी दृष्टि पृथ्वी के ससीम दायरे को पार करती हुई आकाश के असीम, उन्मुक्त क्षेत्र में विचरने लगती है। यदि वे कमल, तमाल मणि, कलिकाओं के मध्य भ्रमर को देखते हैं तो मेघ, सौदामिनी, शिव-हृदय-मन्दिर, चन्द्रमण्डल, का अवलोकन करने की सामर्थ्य भी रखते हैं। रूप-वर्णन करते समय गोस्वामी जी उत्प्रेक्षा की झड़ी सी लगा देते हैं। यथा—

मृदुल चरन सुभ चिन्ह, पदज नख, अति अद्भुत उपमाई।
अरुन नील पाथोज-प्रसव जनु, मनिजुत दल-समुदाई॥
जातरूप मनिजटित मनोहर, नूपुर जन-सुखदाई।
जनु हर-उर हरि बिबिध रूप धरि, रहे बर भवन बनाई॥
कटितट रटति चारु किंकिन-रव, अनुपम बरन न जाई।
हेम-जलज-कल-कलिन-मध्य जनु, मधुकर मुखर सुहाई॥
गज-मनिमाल बीच भ्राजत कहि जाति न पदक-निकाई।
जनु उडुगम-मण्डल बारिद पर, नवग्रह रची अथाई॥१

'विनयपत्रिका' में अतिशयोक्ति के उदाहरण अधिक नहीं मिलते। यदि कहीं उपलब्ध हैं भी, तो वे राम-रूप-गुण अथवा आत्माभिव्यंजना के रूप में ही हैं। अत्यन्तातिशयोक्ति, असम्बन्धातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति आदि के दो-एक उदाहरण दे देना ही यहाँ अभीष्ट है। चपलातिशयोक्ति के सहारे राम-नाम के अलौकिक प्रभाव का कैसा सुन्दर वर्णन किया है—

तेरो नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो।२

अतिशयोक्ति का यह उदाहरण किसी कुतूहल अथवा दूर की सूझ का

१. विनय पद ६२ २. विनय० पद १८०

हेतु नहीं है। यह अभिप्रेत वर्ण्य को सरल व ग्राह्य बनाने में साधनरूप हैं। इसी प्रकार असम्बन्धातिशयोक्ति की योजना से कटि की करधनी की ध्वनि को अवर्णनीय सिद्ध करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—

कटितट रटति चारु किंकिन-रव, अनुपम बरनि न जाई।१

विरोधमूलक अलंकारों में मुख्य गणना विभावना, विषम, विशेषोक्ति, और असंगति की होती है। विभावना, तथा विशेषोक्ति का प्रयोग विनय-पदों की एक विशेषता है। तुलसी ने एक नहीं अनेक पदों में इन अलंकारों का नियोजन बड़ी सफलतापूर्वक किया है। इस प्रकार के नियोजन द्वारा दर्शन के विषय को स्पष्ट तथा ग्राह्य बनाने में गोस्वामी जी ने कमाल दिखाया है।

संसार की अस्तिहीनता के द्योतनार्थ तथा विभिन्न आसक्तियों के निरूपणार्थ गोस्वामी जी ने विशेषोक्ति का कितना सफल व अर्थपूर्ण प्रयोग किया है! दो-एक उदाहरण देखिये—

(अ) खग महं सर्प, बिपुल भयदायक, पगट होइ अबिचारे।
बहु आयुध धरि, बल अनेक करि हारहि मरे न मारे।।२

(ब) कोटिहुँ नाव न पार पाव सो।३

(स) धोये मिटै न४

(द) ईंधन लगाय कल्पसत, औंटत नास न पावै५

(इ) मरइ न उरग अनेक जतन बलमीक बिबिध बिधि मारे६

विषम अलंकार का प्रयोग भी विशेषोक्ति के समान ही हुआ है। साधन करते हुए भी अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत उसके स्थान पर विपरीत फल ही मिलता है। यथा—

जद्यपि भग्न मनोरथ बिधिबस, सुख इच्छत दुख पावै।७

विभावना गोस्वामी जी द्वारा ब्रह्म की अलौकिकता व वैचित्र्य की स्वस्थ स्थापना कराने में बहुत ही सहायक सिद्ध हुआ है। कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति होना ब्रह्म के निराकार-रूप की उद्भावना ही नहीं, पुष्टि भी है। यथा—

---

१. विनय० पद ६२ २. वही, पद १२२ ३. वही, पद १२१ ४. वही, पद १११ ५. वही, पद ११५ ६ वही, पद ११५ ७. वही, पद ११६।

सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिन लिखा चितेरे।

× × ×

रबिकर-नीर बसै अति दारुन, मकर-रूप तेहि माहीं।
बदन हीन सो रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥१

वाक्यन्यायमूलक की श्रेणी में आने वाले प्रमुख अलंकार हैं–परिसंख्या काव्यार्थापत्ति तथा विकल्प। विनयपत्रिका में ये तीनों अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। समसामयिक वर्णाश्रम-धर्म का उल्लेख करते हुए गोस्वामी जी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से धर्म-ग्रन्थों में ही आश्रम तथा वर्ण धर्म का विधान किया है। यथा—

धरम-बरन आश्रमनि के पैयत पोथि ही पुरान२

काव्यार्थापत्ति में दण्डपूपिका न्याय के अनुसार कार्य-सिद्धि होती है। दण्डपूपिका का अर्थ है कि यदि कोई कठिन कार्य सिद्ध हो जाता है तो सुगम कार्य की सिद्धि स्वाभाविक रूप से, परिश्रम किये बिना स्वतः हो जाती है। दण्डपूपिका-न्याय का प्रयोग अनेक स्थलों में हुआ है। उदाहरणार्थ निम्न 'विनयपत्रिका' में पंक्तियों को देखना युक्तिसंगत होगा—

दासतुलसी सोउ त्रास नहिं गनत मन,
सुमिरि गुह, गीध, गज, ग्याति हनुमान की३

अर्थात् गुह, जटायु, गजेन्द्र और हनुमान की जाति को स्मरण कर के संसार-जनित जन्म-भय को मैं कुछ नहीं समझता क्योंकि जब बड़े-बड़े पापी तर गए तो मेरी मुक्ति हो ही जावेगी।

विकल्प का उदाहरण विनयपत्रिका में कहीं-कहीं ही उपलब्ध है। इसका अधिक प्रयोग नहीं हुआ है, अपनी क्षुद्रता तथा स्वामी का बड़प्पन, दो विरोधी परिस्थितियों को देख कर संकोच व भय का उदय होना स्वाभाविक ही है। गोस्वामी जी ने इन्हीं दो विरोधी परिस्थितियों की उद्भावना कर के 'विकल्प' का कितना सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है, देखिए—

प्रभु की बड़ाई बड़ी, आपनी छोटाई छोटी,
प्रभु की पुनीतता आपनी पाप-पीनता।

१. विनय० पद १११ २. वही, पद १९२ ३. वही, पद २०६

दुहूँ ओरे समुझि सकुचि सहमत मन
सनमुख होत सुनि स्वामि समीचीनता ।१

लोकव्यवहारमूलक अलंकारों का प्रयोग भी विनयपत्रिका में मिलता है। इनमें मुख्य हैं—प्रत्यनीक, विनोक्ति, स्वभावोक्ति ।

प्रत्यनीक के प्रयोग से गोस्वामी जी ने यह व्यक्त किया है कि 'कलि' उन्हें दारुण दुःख देने लगा है क्योंकि रामराज्य में उसका कोई वश न चल सका। जैसे गीदड़ मेंढक को मार कर शेर के बैर का बदला चुकाता है, वैसे ही 'कलि' 'तुलसीदास' पर अपने असंतुष्ट क्रोध का प्रहार कर रहा है। यथा—

रामराज न चले मानस-मलिन के छल-छाय ।
कोप तेहि कलिकाल कायर, मुएहि घालत धाय ॥
लेत केहरि को बयर ज्यों भेक हनि गोमाय ।
त्योंहि राम-गुलाम जानि निकाम देत कुदाय ॥२

तर्कन्यायमूलक, शृङ्खलावैचित्र्य मूलक, अपह्नवमूलक, विशेषणवैचित्र्य-मूलक अलंकारों का प्रयोग, खोजबीन करने पर ही मिलता होता है। केवल दो-एक ही उदाहरण देना समीचीन होगा। प्रथम के अन्तर्गत अर्थान्तरन्यास, द्वितीय के अन्तर्गत सार तथा चतुर्थ के अन्तर्गत परिकर अलंकारों के उदाहरण पर्याप्त होंगे जो क्रमशः इस प्रकार हैं—

(अ) मीन तें न लाभ-लेस पानी पुन्य पीन को ।
जल बिनु थल कहा मीच बिनु-मीन को ॥३

(ब) संजम-जप तप नेम-धर्म-व्रत, बहु भेषज समुदाई ।
तुलसिदास भवरोग राम-पद-प्रेमहीन नहिं जाई ॥४

(स) जो न द्रवहु रघुवीर धीर काहे न दुख लागे ।
जदपि मैं अपराध-भवन, दुख-समन मुरारे ॥५

अन्त में उभयालंकार के दोनों भेद, संकर तथा संसृष्टि, के दो-एक उदाहरण देना युक्तिसंगत होगा। जहाँ एक ही छन्द में एक से अधिक अलंकार

१. विनय० पद २६२ २. वही, पद २२० ३. वही, पद १७८, ४ वही पद ८१, ५ वही पद ११०।

दूध-पानी की भाँति इस प्रकार मिले हों कि एक-दूसरे का चमत्कार तो बढ़ा रहे हों परन्तु पृथक न किए जा सकते हों, वहाँ संकर अलंकार की उद्भावना होती है। संकर के तीन भेद हैं :—

१. अंगांगीभाव संकर
२. सन्देह संकर
३. एकवाचकानुप्रवेश शंकर

प्रत्येक का एक-एक उदाहरण पर्याप्त होगा जो क्रमशः इस प्रकार हैं—

(अ) अंगांगीभाव—

रघुपति-भक्ति-बारि छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद-विलास जग बूझत-बूझत बूझै ॥१

(ब) सन्देह—

निर्मल पीत दुकूल अनूपम उपमा हिय न समाई।
बहु मनिजुत गिरि-नील-सिखर पर, कमक-वसन रुचिराई ॥२

(स) एकवाचकानुप्रवेश—

कुलिस कुन्द-कुडमल दामिनि-दुति दसनन देखि लजाई ।३

प्रथम में विभावना और रूपक अन्योन्याश्रित हैं, द्वितीय में उत्प्रेक्षा तथा उपमा में सन्देह है और तृतीय में प्रतीप तथा वृत्यनुप्रास का समन्वय है।

संसृष्टि में दो अलंकार तिलतंदुल-न्याय रूप में मिले रहते हैं। इन्हें स्पष्टतः पृथक्-पृथक् देखा जा सकता है। इसके भी तीन प्रकार हैं—

१. शब्दालंकार संसृष्टि
२. अर्थालंकार संसृष्टि
३. शब्दार्थालंकार संसृष्टि

(अ) शब्दालंकार

पाहि, पाहि राम! पाहि, रामभद्र रामचन्द्र।
सुजस स्रवन सुनि आयो हौं सरन ॥४

---

१ विनय० पद १२४, २ वही पद ६२, ३ ६ वही पद ६२।
४, वही, पद २४८।

(ब) अर्थालंकार

सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं तनु विना लिखा चितेरे।
धोये मिटै न, मरै भीति, दुख पाइय इहि तनु हेरे ॥१

(स) शब्दार्थालंकार

सुखद सुशील सुजान सूर सुचि, सुन्दर कोटिक काम सो ।२

प्रथम उद्धरण में वीप्सा तथा वृत्यनुप्रास—दो शब्दालंकारों—का; द्वितीय में विभावना तथा विशेषोक्ति—दो अर्थालंकारों—का; और तृतीय में उपमा तथा वृत्यनुप्रास—एक शब्द और एक अर्थ अलंकारों-का संयोग हुआ है। अतः उक्त तीनों उद्धरण संसृष्टि अलंकार को प्रस्तुत करते हैं।

सारांश यह कि 'विनयपत्रिका' विशेष रूप से भावना व भक्ति पूर्ण ग्रन्थ होते हुए भी बाह्यपक्षीय गुणों से भी परिपूर्ण है, अलंकरण से मुक्त होने पर भी अलंकारों के भेदप्रतिभेदों से युक्त है।

वाक्चातुर्य तथा उक्तिवैचित्र्य

गोस्वामी तुलसीदास अपनी बात कहने में बहुत निपुण हैं—इसका प्रमाण 'विनयपत्रिका' का लगभग प्रत्येक पद है। अन्तःकरण को प्रस्तुत करना तो कोई बड़ी बात नहीं, परन्तु उसे इस प्रकार सामने रखना कि देखने-सुनने वाले सीधे खिंचे चले आयें सरल नहीं, यह सब नहीं कर सकते। वाक्चातुर्य तथा उक्तिवैचित्र्य से भी अभिप्राय यही है। कहने की चतुराई और उक्ति की विलक्षणता ही कहने वाले की निपुणता तथा वैदग्ध्य का परिचय देती है।

यों तो हिन्दी साहित्य के लगभग सभी कवि अपने-अपने ढंग से अपने मन को खोलते हैं, अपनी बात कहते हैं; परन्तु जिस ढंग से, जिस पटुता से गोस्वामी जी ने विनय-पदों में अपने आराध्य के हृदय को अपनी बात से प्रभावित किया है, वैसा कदाचित कोई नहीं कर सका है। यही गोस्वामी जी की विशेषता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने आकाश में विचरण किया है अथवा बेपर की उड़ाने भरी हैं। वस्तुतः वे धरती पर ही चलते-

१. विनय० पद १११। .२ वही, पद १५७।

फिरते हैं, गोचर पदार्थों को ही उपमानरूप प्रयुक्त करते हैं ; और अत्यन्त सरल, स्वाभाविक वाणी में भाव शब्दों को निःसृत करते है ।

विनयपत्रिका के आरम्भिक स्तुति पदों से ही गोस्वामी जी की वाक्पटुता स्पष्ट होने लगती है । प्रत्येक देवी-देवता से गोस्वामी जी को केवल राम-भक्ति प्राप्त करनी है । यह तभी प्राप्त हो सकती है जब कि उस देवता की भरपूर प्रशसा की जाय अथवा उसकी गुणावली उसी के समक्ष प्रस्तुत की जाय अथवा उसे सबसे बड़े दानों की उपाधि से अभिहित किया जाय । गोस्वामी जी की यह मर्मज्ञता उनकी अनुभूति पर पल्लवित हुयी है । अतः वे प्रत्येक देवता के रूप-गुण के कण-कण को प्रस्तुत करने का पूरा प्रयास करते हैं। 'गनपति' को 'विद्यावारिधि' 'बुद्धिविधाता'१ सूर्य को 'दयालु',२ शंकर का अनन्य दानी—'दानी कहुँ संकर सम नाहीं',३ देवी को 'भक्ति-मुक्ति दायिनी',४ गंगा को 'त्रिपथगासि, पुन्यरासि, पाप-छलिका',५ यमुना को 'अनघमेघ' को मिटाने वाली'६ हनुमान को 'जगदार्त्तिहर्त्ता',७ लक्ष्मण को 'सकल सुमंगलकारी'८ भरत को 'पृहुमि-पालक परम'९ और शत्रुघ्न को 'सत्रुकरि-केसरि'१० आदि अनेकानेक भूषणों से विभूषित करने के उपरान्त उन्होने अपनी माँग अपने प्रभु के समक्ष प्रस्तुत की हैं । यही उनका चातुर्य है, यही उनकी कला है । इतनी प्रशंसा सुनने के पश्चात् कौन होगा जो 'कुछ न देने' का टका सा जवाब दे देगा ।

सीता जी से विनती करते समय गोस्वामी जी ने नारीसुलभ गुणों के उन्मेष में अपने वैदग्ध्य का पूरा-पूरा प्रयोग किया है । सीता जी को 'अम्ब' सम्बोधित कर के ही अपनी याद दिलाने के हेतु प्रार्थना करते हैं । बात आरम्भ करने का, अपनी याद दिलवाने का ढंग भी गोस्वामी जी बतला देते हैं । कोई भी 'करुन-कथा' छेड़ कर यह कहा जा सकता है कि 'आपके नाम को ले-लेकर आपका एक ग़रीब दास अपना पेट भर रहा है' । गोस्वामी जी

१. विनय० पद १ । २. वही, पद २ । ३. वही, पद ४ । ४. वही, पद १६ । ५. वही, पद १७ । ६. वही, पद २१ । ७. वही, पद २६ । ८. वही पद ३७ । ९. वही, पद ३९ । १०. वही. पद ४० ।

को विश्वास है कि अगर 'राम' ने 'सो है कौन'१ भी कह दिया तो उनकी बिगड़ी बन जावेगी क्योंकि सीताजी उनका नाम लेकर सारी दशा का चित्रण कर देंगी। यही है तुलसी का लोक-व्यवहार और अनुशासारीति का पूर्ण ज्ञान। इतना ही नहीं, गोस्वामी जी नारी-वृत्तियों को और उनकी कमजोरियों को भी पहचानते थे। तभी तो सीताजी को अपना सच्चा और वास्तविक अनुशंसक बनाने के हेतु उनके पति 'राम' की प्रशंसा करने से नहीं चूकते। 'जन कहाइ नाम लेत हौं'२ और 'सरल प्रकृति आपु जानिए करुना निधान की'३ कह कर सीता जी में अपने काम के प्रति रुचि उत्पन्न कर देते हैं। यही है गोस्वामी जी की वाक्पटुता और बात कहने की बानगी।

तुलसी को इस बात की पूरी जानकारी थी कि बड़ों से कार्यसिद्धि तभी हो सकती है जबकि स्वयम् को अति क्षुद्र तथा असहाय के रूप में प्रदर्शित किया जाए। अतएव अनेक स्थलों पर गोस्वामी जी ने स्वयम् को अति दीन-हीन, पापी तथा असहाय कहा है। परन्तु वे यह भी जानते थे कि अपने को केवल ऐसा क्षुद्र कह देना ही पर्याप्त न होगा। इस प्रकार तो अन्य पशस्तिमना साधारण जीव केवल निन्दा का ही भागी बनेगा; वह अपने आराध्य का दयापात्र नहीं बन सकता। अतः यदि स्वयम् को 'दीन' कहते हैं तो प्रभु को अति 'दयालु', यदि स्वयम् को 'पातकी' तो प्रभु को 'पाप पुंज-हारी' भी कहना जरूरी है। यथा—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज हारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं; आरतिहर तोसो॥४

यह है बात कहने का ढग। इसी में तो वाक्पटुता का प्रदर्शन है। अपने को पूर्णतः प्रभु के चरणों में डाल कर, पूर्ण समर्पण करके उसकी कृपा प्राप्त कर लेना ही गोस्वामी जी का अभीष्ट है। तभी उन्होंने 'जाऊँ कहाँ तज चरन तिहारे'५ 'तुम तजि हौं कासौं कहौं'६ कह कर अपने प्रभु के चरणों

१. विनय० पद ४१। २. वही, पद ४२। ३. वही, पद ४२।
४ विनय० पद ७९। ५ वही, पद १०१। ६ वही, पद २७३।

में अपने को पूर्णतः समर्पित कर दिया है। परन्तु इतने से ही काम नहीं चलता। गोस्वामी जी ने युक्तिपूर्ण ढंग से, बड़ी ही चतुराई से अपने प्रभु से कह दिया—'जैसो हौं तैसों हौं, रावरो !'१ अर्थात् जैसा भी हूँ आपका दास ही हूँ। अब देखिए वे कैसे हैं। यथा—'खोटौ खरौ रावरो हौं'२ अर्थात् चाहे खोटा हूँ, चाहे खरा आपका ही हूँ। अब अपने दास को—जैसा भी हो—छोड़ कर 'राम' कहाँ जावेंगे ?

उक्तिवैचित्र्य में गोस्वामी जी ने अद्भुत निपुणता का परिचय दिया है। अपनी पंकिल, हीन दशा को सुधारने के लिए प्रभु से प्रार्थना करते समय कितनी विलक्षण उक्तियों का चमत्कार दिखाया है। अपने प्रभु से स्पष्टतः, बड़ी नम्रता के साथ कह देते हैं कि वे उनके चरणों में आकर, उन्हें बार-बार पुकार कर तंग न करते यदि उन्हें कोई दूसरा स्वामी अथवा स्थान मिल जाता। यथा—

तौ हौं बार-बार प्रभुहिं पुकारिकै खिजावतो न
जो पै मोको होतो कहुँ ठाकुर-ठहरु।३

यों तो सभी भक्त अपने प्रभु के चरणों पर आत्मसमर्पण कर देते हैं, उन्हें अपनी दीनता-हीनता से परिचित कराते हैं, सान्निध्य-प्राप्ति की भिक्षा माँगते हैं; परन्तु गोस्वामी जी का ढंग निराला ही है। वे प्रभु की ड्योढ़ी पर धरना धर कर बैठ जाते हैं और 'मचला' लेकर ही हटने का प्रण करते हैं। साथ ही साथ अपने प्रभु को लोकरीति व वेदवाक्यों से भी अवगत कराते चलते हैं। वे अनेक स्थलों पर अपने प्रभु से यही कहते हैं कि ससार को ज्ञात हो चुका है कि मैं 'राम का दास' हूँ। ऐसी दशा में आप वेदसम्मत धर्म के अनुयायी को अपनायेंगे या 'जगत्प्रसिद्ध राम-दास तुलसी को'। गोस्वामी जी वेद की कुछ परवाह नहीं करते, उन्हें तो इस बात की चिन्ता है कि 'लोक' क्या कहेगा। यथा—

(अ) जगतविदित बात है परी समुझिए,
धौं अपने लोक कि बेद बड़ेरो।४

१ विनय० पद २७१, २ वही, पद ७५, ३ वही, पद २५०, ४ वही, पद २७२

(ब) कहौं, बलि, वेद की न, लोक कहा कहैगो ?१

कितनी तर्कसगत उक्ति है ! ठीक भी है, भक्त को अपने बिगड़ने-सुधरने पर इतना ध्यान नहीं होता जितना कि अपने प्रभु की कीर्ति पर धब्बा लग जाने का । यहाँ गोस्वामी जी की तर्कबुद्धि का बड़ा सुन्दर उन्मेष हुआ है । किसी न किसी तरह प्रभु से अभीष्ट वरदान प्राप्त कर लेना ही उनका लक्ष्य है । गोस्वामी जी अपने प्रभु की महानता, बड़प्पन, आदि का भी ध्यान रखते हैं । एक उक्ति देखिए—

प्रगट कहत जो सकुचिए अपराध भर्‌यो हौं ।
तौ मन में अपनाइये तुलसिहि कृपा करि, कलि विलोकि हहर्‌यो हौं ॥२

अपराध से भरे हुए किसी मनुष्य—अपराधी—से प्रत्यक्षतः सबके सामने बात करने में संकोच की वृत्ति कितनी स्वाभाविक है, यह सब जानते हैं । भला आदमी खुलेआम अपराधी से बात नहीं करेगा, भले ही वह सगा हो, प्यारा हो । कितनी सच्ची उक्ति है यह ! अतः मुख से कुछ न कह कर केवल मन में ही अंगीकार किए जाने से बाबाजी संतुष्ट हो जावेंगे ।

ठीक इसी प्रकार की एक उक्ति और देखिए जिसमें गोस्वामी जी अपने राम से कहते हैं—

ह्वौं सनाथ ह्वै हौं सही, तुमहूँ अनाथपति, जो लघुतहि न भितैहो ।३

'लघुता से भयभीत' होने में कितनी सच्ची अनुभूति की व्यंजना है ! बड़े आदमी गरीबों से, अनाथों से, मिलने में, उनसे बात करने में कितने भयभीत होते हैं, कितने लजाते हैं, यह सब जानते हैं । यहाँ गोस्वामी जी इसी बात को कितनी मार्मिक, प्रभावोत्पादक उक्ति द्वारा प्रस्तुत करते हैं ।

अन्त में यह कहना भी असंगत न होगा कि इस प्रकार की उक्तियों में वैचित्र्य, चारुता व प्रगल्भ व्यंजना लाने में शब्द-शक्तियों का प्रयोग सर्वत्र हुआ है । गोस्वामी जी को त्रिविध शब्द शक्तियों पर पूर्ण अधिकार था ।

---

१ वही, पद २५६ ।
२ वही, पद २६७ ।
३ वही, पद २७२ ।

विनयपत्रिका में अभिधा सामान्य रूप से प्रयुक्त हुयी है; परन्तु व्यंजना का प्रयोग कहीं-कहीं ही मिलता है। लक्षणा शक्ति का प्रयोग तुलसी ने बड़ी निपुणता व सफलतापूर्वक किया है। व्यंजना का प्रयोग केवल वहीं होता है जहाँ अभिधा और लक्षणा विफल हो जाती है। इसके द्वारा प्राप्त अर्थ व्यंजित, ध्वनित अथवा सूचित ही होता है। इन शक्तियों का प्रयोग मुहावरों तथा लोकोक्तियों में बड़ा ही सुन्दर निखार लाया है। प्रत्येक के दो-एक उदाहरण दे देना युक्तिसंगत होगा। यथा—

लक्षणा—

(अ) सीदत साधु, साधुता सोचति,
खल बिलसति, हुलसति खलई है।१

(ब) ढील किए नाम-महिमा की नाँव बोरिहौं।२

(अ) उद्धरण में 'साधुता सोचति' तथा 'हुलसति खलई है' का अभिधा शक्ति से, अथवा वाच्यार्थ से कोई अर्थ ग्रहण नहीं कर सकते। अतः लक्षणा की सहायता से अर्थ निकालना अनिवार्य है। लक्ष्यार्थ से स्पष्ट हो जाता है कि 'साधुता सोचति' से अभिप्राय है—समस्त साधु सत्जनों की दशा से जो चिन्ताग्रस्त हैं, और 'हुलसति खलई' का अर्थ है दुष्ट व्यक्ति मौज कर रहे हैं।

(ब) उद्धरण में 'नाँव बोरिहौं' के वाच्यार्थ से काम नहीं चलता। अतएव लक्ष्यार्थ की सहायता लेना आवश्यक है। अर्थ स्पष्ट करने पर ज्ञात होता है कि इसका अर्थ है—'बदनाम' कर देना।

अतः हम यह निःसंकोच रूप से कह सकते हैं कि 'विनयपत्रिका' के पदों में रूढ़ि लक्षणा व प्रयोजन लक्षणा का प्रयोग सुन्दर और समुचित रूप में हुआ है।

व्यंजना—

(अ) सुधा सो सलिल सूकरी ज्यों गह डोरिहौं।३

(ब) कहु केहि कहिए कृपानिधे! भव-जनित विपत्ति अति।४

---

१ विनय० पद ९३९। २ वही, पद २५८।
३ वही, पद २५८। ४ वही, पद ११०।

उद्धरण (अ) में अभिधा से प्राप्त अर्थ बड़ा ही भौंड़ा निकलता है। लक्षणा भी यहाँ सहायता करने में असमर्थ है। अतः व्यंजना से इसका अर्थ निकालना अनिवार्य है। व्यंग्यार्थ बतलाता है कि —'सुधासलिल' के समान 'निर्मल यश' को जलसूकरी की तरह 'मलिन' कर दूँगा। अर्थात् प्रभु की पतित-पावनता के यश को बदनाम कर दूँगा, ढकोसला प्रमाणित कर दूँगा।

उद्धरण (ब) में संसारजनित विपत्तियों के आधिक्य की सूचना, व्यंजना 'कहु केहि कहिए' से, स्पष्ट मिल जाती है। विपत्तियो के इस आधिक्य की व्यंग्यार्थ 'अवर्णनीयता' का बोध सीधे 'कहु केहि कहिए' के वाच्यार्थ से हो जाता है। अतः उक्त उद्धरण अभिधामूलक व्यंजना का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। इस उक्ति का अनुरूप तुलसी के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। गीतावली में ठीक इसी प्रकार हनूमान, सीता जी की दशा का वर्णन करते हुए, राम से कहते हैं—

तुम्हरे विरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु, राम करुनानिधि, जानौं कछु पै सकों कहि हौं न।१

कहने का तात्पर्य यह कि विनयपत्रिका तुलसी की वाग्विदग्धता, वाक्-चातुर्य तथा उक्तिवैचित्र्य का अप्रतिम, ओजस्वी व श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करती है। कथन की सवेदनशीलता, भावप्रवणता, अभिव्यक्ति के नैपुण्य व वैचित्र्य के साथ मुखर होकर, अति प्रभविष्णु तथा मार्मिक सिद्ध हुई है।

रस

यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'विनयपत्रिका' एक भावप्रधान ग्रंथ है। इसमें प्रयुक्त भावों में सर्वोत्कृष्ट तथा प्रमुख भाव है निर्वेद। पूर्ण ग्रन्थ में इसी भाव का प्राधान्य मिलता है। अन्य प्रयुक्त भाव हैं – प्रेम, शोक, क्रोध, उत्साह और भय। परन्तु ये सब निर्वेद से प्रच्छन्न रहते हैं; और शांत रस के संचारी बन कर आते हैं। अतः यत्र-तत्र किसी-किसी पद में शृङ्गार२ करुण,३ रौद्र,४ वीर,५ अथवा भयानक,६ रस की निष्पत्ति गौण रूप से ही

१ गीतावली सुन्दर० २०, २ विनय० पद ४५, ५१, ५३, ६२,
३ वही, पद १७६, २४८ (अनेक), ४ वही, पद २५, १५, ११,
५ वही, पद २६, ३१, ४०, ६ वही, पद १३४, २१६, २६७।

हुयी है। विशेष व मुख्य रस शान्त ही है।

रस की निष्पत्ति के हेतु अपेक्षित अवयव तीन होते हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी अथवा व्यभिचारी भाव। इन तीनों अवयवों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।१ भाव के प्रवर्त्तन में दो पक्ष आवश्यक होते हैं—आश्रय और आलम्बन। जिसके हृदय में भाव उत्पन्न होता है उसे आश्रय और जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसे आलम्बन कहते हैं। विभाव के दो पक्ष होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। उद्दीपन वे कार्य अथवा वस्तुएँ होती हैं जो भाव को उद्दीप्त करती हैं। भाव की अभिव्यक्ति के फलस्वरूप आश्रय के शरीर की चेष्टाएँ व वचन अनुभाव कहलाते हैं। प्रधान भाव के कारण उत्पन्न होकर कुछ भाव उसे पुष्ट करते हैं और फिर लुप्त हो जाते हैं, उन्हें सचारी भाव कहते हैं।

'विनयपत्रिका' में निष्पत्त शान्त रस के हेतु आलम्बन विभाव दाशरथि राम हैं और स्थायी भाव निर्वेद। उद्दीपन विभाव स्तुति के अन्तर्गत प्रार्थ्य देवी।देवतादि हैं और अनुभाव रोमांच, कम्पादि। अन्य रसों के सिद्ध्यार्थ जो भाव हैं वे संचारी का कार्य करते हैं। इन संचारियों को इस प्रकार गिनाया जा सकता है—१. ग्लानि २. गर्व ३. दीनता ४. हर्ष ५. मोह ६. विषाद, ७. चिन्ता ८. शंका ९. व्याधि १०. अमर्ष।

निषय को स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक अवयव को उदाहरण के साथ प्रकाश में लाना युक्तिसंगत होगा। यथा—

१. स्थायी भाव—निर्वेद

परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन-मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं ॥२

२. विभाव—(अ) आलम्बन विभाव

राम—जाने बिनु रामरति पचि पचि जग मरत।
परिहरि छल सरन गए तुलसिहु से तरत ॥३

---

१ विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्तिः (भरत नाट्यशास्त्र)
२ विनय० पद १०५। ३ वही, पद १३४।

(ब) उद्दीपन विभाव (क) देवता

१. श्री गणेश—गाइए गनपति जगवन्दन ।१

२. शिव—संकरं संप्रदं सज्जनानंददं, सैल-कन्या परं परम रम्यं ।
काम मद-मोचनं तामरस-लोचनं, वामदेवं भजे भावगम्यं ॥२

३. पार्वती—देखो देखो, बन बन्यो आज उमाकंत ।
मानों देखन तुमहिं आई रितु बसन्त ॥३

४. देवी (भगवती)—रूपसुखसील सीमाऽसि, भीमाऽसि,
रामाऽसि वामाऽसि वर बुद्धिबानी ।४

५. हनूमान—केसरी-चारु-लोचन-चकोरक-सुखद ।५

६. भरत—पादुका-नृप-सचिव ।६

७. शत्रुघ्न—जयति सर्वाङ्ग सुन्दर, सुमित्र-सुवन ।७

८. बिन्दुमाधव—नखसिख रुचिर बिन्दुमाधव छवि
निरखिहिं नयन अघाहीं ।८

(ख) तीर्थ स्थान

१. काशी—सेइय सहित सनेह देहभरि कामधेनु कलिकासी ।९

२. चित्रकूट—सब सोच-विमोचन चित्रकूट ।
कलिहर, करन कल्यान बूट ॥१०

(ग) सरिता

१. गंगा—पुरजन पूजोपहार, सोभित सरि धवलधार,
भंजन भव भार, भक्ति—कल्पथालिका ॥११

२. यमुना—यमुना ज्यों-ज्यों लागी बाढ़न ।१२

३. अनुभाव—रोमांच, कम्प

(अ) सुनि सीतापति सील सुभाउ ।

---

१ विनय० पद १ । २ वही, पद १२ । ३ वही, पद १४ । ४ वही, पद १५ । ५ वही, पद २५ । ६ वही, पद ३९ । ७ वही, पद ६२ । ८ वही, पद ६२ । ९ वही, पद २२ । १० वही, पद २३ । ११ वही, पद १७ । १२ वही, पद २१ ।

मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ ॥१
(ब) सजल नयन, गदगद गिरा, गहवर मन पलक सरीर ।२

४. संचारी भाव–

(१) ग्लानि— बड़ी गलानि हिय हानी है सर्वज्ञ गुसाईं ।
कर कुसेवक कहत हौं सेवक की नाईं ॥३
(२) गर्व—तुलसिदास अनयास रामपद पइहै प्रेम पसाउ ।४
(३) दीनता—दिन दुरदिन, दिन दुरदसा, दिन दुख, दिन दूषन ।
जब लौं तू न विलोकिहै रघुवंस विभूषन ॥५
(४) हर्ष—पावन किय रावन रिपु तुलसिहु से अपत ।६
(५) मोह–तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन रामगुलाम को७,
(६) विषाद—मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो ।
याके लिए सुनहु करुनामय, मैं जग जनमि जनमि
दुख रोयो ।८
(७) चिन्ता—कलिमल ग्रसित दास तुलसी पर काहे कृपा बिसारी९
(८) शंका—डरत हौं देखि कलिकाल को कहरु ।१०
(९) व्याधि—सिरकंप इन्द्रियसक्ति प्रतिहत बचन काहु न भावई११,
(१०) अमर्ष—कलि विलोकि हहर्‌यो हौं ।१२

सारांश यह कि विनयपत्रिका में काव्यांगों का सौन्दर्यपूर्ण उत्कर्ष हुआ है और भाषा, शैली, अलंकार, रसादि के साथ साथ काव्य को चमत्कार व सौष्ठव प्रदान करने वाले वाक्चातुर्य व उक्तिवैचित्र्य जैसे उपादानों का सफल व अद्‌भुत समावेश । यही विनयपत्रिका की कला का बाँकापन है, उसकी विशेषता है ।

---

१ विनय०, पद १००। २ वही, पद १६३। ३ वही, पद १५०। ४ वही, पद १००। ५ वही, पद १४६। ६ वही, पद १३०। ७ वही, पद १५५। ८ वही, पद २४५। ९ वही, पद १६६। १० वही, पद २५०। ११ वही, पद १३६ (८)। १२ वही, पद २६७।

अनुक्रमणिका

ग्रन्थ	पृष्ठ
अभिज्ञान शाकुन्तल	१४५
ऋगवेद	१४६
कवितावली	७,८,६,१०,११,२२,४६,४७,११५
कबीर ग्रन्थावली	७६,११७
कल्याण (मानस अङ्क)	६४
केदारखण्ड	८५,८८
कृष्ण गीतावली	७,४६
गीतावली	४६
गीतिगोविन्द	१४७
गोस्वामी तुलसीदास	२३, ३८, ५७, ८६
तुलसी चरित	१६-२४
तुलसी दर्शन	२३,५७
तुलसीदास और उनका युग	१०८,१०६
तुलसी साहित्य और सिद्धान्त	१४८
तुलसीदास और उनकी कविता	५७
तुलसी ग्रन्थावली	६०
दोहावली	३,७,१०,४६,४७,११५
नागरी प्रचारिणी-पत्रिका	५८
नारदसूत्र	१२१
पद्मपुराण	१०६

ग्रन्थ	पृष्ठ
बर्नियर्स ट्रेवल्स इन दी मुग़ल इण्डिया	४
बरवै रामायण	४६
भक्त कल्पद्रुम	१२
भरत नाट्य शास्त्र	१८४
महारामायण	१३६
मानस	६,१०,११,४६,४७,६०-६७,६८,१०६,१२७,१५८,१५६
मानस मयंक	१५
मेघदूत	१४६
रामगीतावली	५७
रामचन्द्रिका	१७
विक्रमोर्वशीय	१४६
शिवसिंह सरोज	२१
श्रीमद्भगवद्गीता	७६,८५,१०८,१२१,१२५,१३३
श्रीमद्भागवत	८८,१२२,१२३
संक्षिप्त मूल गोसाईं चरित	२७,३०,५८
सूरसागर	२१,१११८,१२६,१२८
हिन्दी नवरत्न	२२-२३
हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	४१,५४,५८,८४,१५१

नाम

अकबर	१,२,४,३५
आत्माराम दुबे	१५
कबीर	७,१४८
काष्ठ जिह्वा	१२
केशवदास	१७
केशव प्रसाद मिश्र	६४
ग्रियर्सन (डाक्टर)	१८,२२

नाम	पृष्ठ
चन्द्रबली पाण्डे	१८,२२.११५
चैतन्य	६
जयदेव	१४७,१४८
जहाँगीर	३
टोडरमल	२
दादू	७,४८
नरहरिदास	२५,३०,३१
नानक	१४८
नारद	१२१
निम्बार्काचार्य	६
निराला	१४७
पन्त	१४७
प्रसाद	१४७
पाठक दीनबन्धु	२६
भीम	७१
मध्वाचार्य	६,६५,११२
मलूकदास	७
महर्षि बाल्मीकि	१४६
महादेवी वर्मा	१४४,१४७
माताप्रसाद गुप्त	१३,५६,५७,५८
मिश्रबन्धु	२२
मीराबाई	७,१४८
मेघनाद	६६
यशदत्त शर्मा	१५१
युधिष्ठिर	७१
रत्नावलि	२६,३१

नाम	पृष्ठ
राजपति दीक्षित (डाक्टर)	
राजा प्रतापसिंह	२२
रामचन्द्र शुक्ल	१६,३८,६०
राम नरेश त्रिपाठी	२२,५७
राम बोला	१६
राम कुमार वर्मा	४१,५८,८४,१५१,१५२,१५३
रामानुजाचार्य	६, ६५, ११२
वल्लभाचार्य	७
व्यास	१२१
वियोगी हरि	१६,६६
विद्यापति	१४८
वेणी माधवदास	१८,५७
शंकराचार्य	५,६,२१,७८,८६,६५,११२
शाण्डिल्य	१२१
श्यामसुन्दरदास	१८,२३,५७,५८,८६,१४४
सूरदास	२१,११८,१४७,१